विष्णु प्रभाकर

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : तीन रुपये (3.00)
1970 दूसरा संस्करण;
रूपक प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, में मुद्रित
DARPAN KA VYAKTI (Novel) by Vishnu Prabh

दर्पण का व्यक्ति

प्रवेश : स्थानीय दैनिक के पहले पृष्ठ पर एक समाचार छपा था—हमें बड़े खेद के साथ यह सूचना देनी पड़ रही है कि कल रात किसी समय प्रसिद्ध लेखक अमीयकुमार दास का हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण देहान्त हो गया। मृत्यु के समय वे अकेले थे और कल ही होटल में आकर ठहरे थे। मैनेजर का कहना है कि वे सदा की तरह शान्त थे। सोने जाने से पहले बहुत देर बातें करते रहे। और जैसा कि हमेशा करते थे, उन्होंने खूब पेट भरकर खाना खाया। उसके बाद काफी का एक प्याला लेकर वे सोने चले गए।

उनकी मृत्यु-शय्या के पास एक रहस्यमय लम्बा पत्र मिला है। वह पत्र किसी नारी का है और उसके अन्त में हस्ताक्षर के स्थान पर लिखा हुआ है—'तुम्हारी एक परिचिता'। लेकिन 'पुनश्च' के बाद जिस नारी के हस्ताक्षर हैं उसका नाम है 'यशोदा'। जानकार क्षेत्रों में उस पत्र के अनेक अर्थ लगाए जा रहे हैं।

पत्र

प्राणप्यारे !

कल करवा चौथ थी। जैसा कि पिछले तीस साल से मैं करती आई हूं, कल भी मैंने व्रत रखा। वही वस्त्र पहने जिनको मैंने पिछले तीस साल से अपने पास सुरक्षित रखा है। तुम्हें अचरज होगा लेकिन तार-तार हो जाने पर भी टीवल का वह लहंगा और सफेद गोटा लगी सुई लाल ओढ़नी आज भी मुझे उस दिन की याद दिला देती है, जिस दिन पहली वार मैंने इनको पहना था। पहली वार जव पहना था तव क्या विचार मन में उठा था, इसकी धुंधली याद आज तक मिट नहीं पाई। तव शायद मैं विवाह का अर्थ नहीं जानती थी। वह मेरे लिए एक शब्दमात्र था। एक ऐसा खेल था जो केवल मनोरंजन के लिए खेला जाता है। उसमें गुणा की भावना या जैसा कि लोग कहते हैं प्रेम की भावना, अपने को देने और पाने की भावना, इसकी कोई छाया तक नहीं थी। तुम्हारी ही किसी पुस्तक में मैंने पढ़ा है कि 'देने और पाने के गुणा को ही विवाह कहते हैं'।

तुम सोचोगे कि यह पत्र किसका है और यह सम्वोधन कैसा है? पर मैं कोई अपरिचित थोड़े ही हूं। मैं तुम्हें वहुत अच्छी तरह पहचानती हूं और तुम भी मुझे अच्छी तरह जानते हो। इससे पहले मैंने तुम्हें कभी कोई पत्र नहीं लिखा। यकीन मानो, आज भी मैं नहीं लिख रही हूं। लेकिन रात न जाने क्या हुआ कि जव मैं अपने इस टूटे हुए घर में टूटे हुए शीशे के सामने वैठकर अपनी मांग में सिन्दूर भर रही थी तो ऐसा लगा जैसे शीशे में दूर से एक तस्वीर मुझे घूर रही है। वह तस्वीर वहुत धुंधली थी। लेकिन मेरी आंखों ने जैसे धुंधलेपन के उस पार देख लिया हो। तस्वीर का वह व्यक्ति मेरे लिए हाड़-मांस का एक सुन्दर स्वस्थ पुरुष वन गया। वह पुरुष

जिसके जयजयकार की ध्वनि अक्सर मेरे कानों से आ टकराती है, और मेरे दिल के टुकड़े-टुकड़े कर देती है।

उसकी सैकड़ों तस्वीरें आज मेरी स्मृति के एलबम में सजी हैं। मेरी कापी में भी रखी हुई हैं। इन्हें सामने रखकर ही तो मैं करवा चौथ की कहानी सुना करती हूं।

तुम सोचोगे कि मैं कोई एक बात सिलसिले से क्यों नहीं कह रही हूं। क्या बताऊं, नदी में जब बाढ़ आती है तो वह किनारे तोड़ देती है। ऐसी ही बाढ़ उस शीशे के सामने बैठे हुए मेरे इस जर्जर, थके शरीर में उमड़ उठी है।

तुम जानते हो न करवा चौथ की वह कहानी ? सात भाइयों की एक बहन थी। वे सातों भाई अपनी बहन को बहुत-बहुत प्यार करते थे। उसके बिना वे खाते नहीं थे। उससे पूछे बिना कहीं जाते नहीं थे। तुम्हें मालूम है न, करवा चौथ के दिन औरतें अपने पति की मंगल कामना के लिए व्रत रखती हैं। रात को चन्द्रमा के उदय हो जाने पर उसको अर्घ्य देकर तब कहीं भोजन करती हैं। उस बहन ने भी व्रत रखा। लेकिन सन्ध्या को जब उसके भाई खाना खाने के लिए आए तो एक समस्या पैदा हो गई। भाई उसके बिना खाना खा नहीं सकते थे। लेकिन जब तक चांद न निकले तब तक बहन खाना कैसे खाए। अभी तो सूरज ही डूबा था। चन्द्रोदय होने में बहुत देर थी। तब भाइयों ने क्या किया। एक बहुत ऊंचे पेड़ पर, पत्तों की झुरमुट के पीछे, एक टहनी पर उन्होंने एक दीवा रखा। फिर उसे छलनी से ढंक दिया और घर आकर बहन से बोले, "तुम चांद देखकर खाना खाओगी न ? वह देखो चांद निकल आया है।"

बहन ने अचरज से उधर देखा। पत्तों के पीछे से छलनी में से होकर दीवे का हलका-हलका प्रकाश कार्तिक की उस ठण्डी सन्ध्या को आलोकित कर रहा था। भोली बहन कैसे शंका करती कि उस-

पर जान देने वाले भाई उसे ठग रहे हैं! दौड़ी-दौड़ी भाभियों के पास गई। बोली—"भाभी, देखो, चांद निकल आया है। आओ कहानी सुनकर व्रत का उद्यापन कर डालें।"

भाभियां उसके भाइयों को जानती थीं। हंस पड़ीं। बोलीं—"तू ही अपने भाइयों की लाड़ली है। यह नया चांद तेरे लिए ही निकला है। तू खाना खा। हमारा चांद अभी नहीं निकला।"

काश! वे भाभियां भी ननद को प्यार करती होतीं और सच-सच बात बता देतीं! लेकिन भाइयों के प्यार की मतवाली वह भोली बहन! उसने उस छल को न पहचाना, और विधिवत् व्रत का उद्यापन करके भाइयों के साथ भोजन करने बैठ गई। विधि ने उसे चेतावनी देनी चाही। पहला ग्रास उठाते ही उसमें बाल निकल आया। दूसरे ग्रास में कंकड़ था और तीसरे ग्रास में भी कुछ ऐसा ही निकला। बहन का माथा ठनका। वह खाना न खा सकी···।

तभी अचानक ससुराल से खबर आई कि उसके पति बहुत बीमार हैं। वह तुरन्त उठ खड़ी हुई। कहां तो खुशियां मनाई जा रही थीं, कहां हाहाकार मच उठा। विधि का विधान देखिए। रोते-रोते मां ने जब बेटी को विदा करना चाहा तो उसे कोई रंगीन कपड़ा ही न मिला। पड़ोसियों ने कहा, "लाल डोरी देकर ही बेटी को विदा कर दो।"

करवा चौथ की देवी एक नहीं है। वे सात बहनें हैं। जब बेटी घर से विदा हो रही थी तो मां ने उससे कहा, "रास्ते में जो कुछ भी दिखाई दे उसे पैरों पड़ना कहना और अपने सुहाग का वरदान मांगना।"

बेटी ने यही किया। आदमी, औरत, पेड़, झाड़ी, नदी, तालाब, पशु-पक्षी सभी को वह पैरों पड़ना कहती। उसे करवा चौथ की देवी भी मिली। उसके पैर पकड़कर उसने कहा, "मां, मुझे सुहाग

पर जान देने वाले भाई उसे ठग रहे हैं! दौड़ी-दौड़ी भाभियों के पास गई। बोली—"भाभी, देखो, चांद निकल आया है। आओ कहानी सुनकर व्रत का उद्यापन कर डालें।"

भाभियां उसके भाइयों को जानती थीं। हंस पड़ीं। बोलीं—"तू ही अपने भाइयों की लाड़ली है। यह नया चांद तेरे लिए ही निकला है। तू खाना खा। हमारा चांद अभी नहीं निकला।"

काश! वे भाभियां भी ननद को प्यार करती होतीं और सच-सच बात बता देतीं! लेकिन भाइयों के प्यार की मतवाली वह भोली बहन! उसने उस छल को न पहचाना, और विधिवत् व्रत का उद्यापन करके भाइयों के साथ भोजन करने बैठ गई। विधि ने उसे चेतावनी देनी चाही। पहला ग्रास उठाते ही उसमें बाल निकल आया। दूसरे ग्रास में कंकड़ था और तीसरे ग्रास में भी कुछ ऐसा ही निकला। बहन का माथा ठनका। वह खाना न खा सकी...।

तभी अचानक ससुराल से खबर आई कि उसके पति बहुत बीमार हैं। वह तुरन्त उठ खड़ी हुई। कहां तो खुशियां मनाई जा रही थीं, कहां हाहाकार मच उठा। विधि का विधान देखिए। रोते-रोते मां ने जब बेटी को विदा करना चाहा तो उसे कोई रंगीन कपड़ा ही न मिला। पड़ोसियों ने कहा, "लाल डोरी देकर ही बेटी को विदा कर दो।"

करवा चौथ की देवी एक नहीं है। वे सात बहनें हैं। जब बेटी घर से विदा हो रही थी तो मां ने उससे कहा, "रास्ते में जो कुछ भी दिखाई दे उसे पैरों पड़ना कहना और अपने सुहाग का वरदान मांगना।"

बेटी ने यही किया। आदमी, औरत, पेड़, झाड़ी, नदी, तालाब, पशु-पक्षी सभी को वह पैरों पड़ना कहती। उसे करवा चौथ की देवी भी मिली। उसके पैर पकड़कर उसने कहा, "मां, मुझे सुहाग

का आशीर्वाद दो।"

देवी बोली, "तेरा सुहाग तो लुट चुका। मैं ऐसा आशीर्वाद कैसे दूं?"

सुनकर बेटी पछाड़ खाकर गिर पड़ी। सिसकते हुए उसने देवी से फिर प्रार्थना की, "मां, तुम तो सर्वशक्तिशालिनी हो। तुम चाहो तो सब कुछ कर सकती हो।"

देवी ने उत्तर दिया, "मैं कुछ नहीं कर सकती। आगे चलकर तुम्हें मेरी दूसरी बहन मिलेगी, शायद वह कुछ कर सके।"

बेटी रोती-रोती आगे बढ़ी। दूसरी बहन मिली। तीसरी मिली। चौथी मिली। पांचवीं मिली और छठी भी मिली। लेकिन कोई कुछ न कर सकी।...

सोचती हूं, उस बेटी की क्या दशा हुई होगी! क्या उसका दिल विदीर्ण नहीं हो गया होगा? कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि जैसे तीस साल के इस लम्बे जीवन में मैंने भी प्रतिपल उस दर्द का अनुभव किया है।...

यह मैं क्या लिख गई! मेरे सुहाग पर तो कभी संकट नहीं आया। भले ही मेरा हाथ कांपा हो, लेकिन मांग में सिन्दूर भरने का मेरा अधिकार आज तक कोई नहीं छीन सका। यह दूसरी बात है कि जिसके लिए सिन्दूर भरती हूं, वह हमेशा मेरे लिए दर्पण का व्यक्ति बना रहा, आंखों का नहीं बन पाया। लेकिन मैं तो वह कहानी सुना रही थी न!...

छठी बहन के पास जब बेटी पहुंची और उसके पैर पकड़े तो उसने भी वही उत्तर दिया, "मैं अब कुछ नहीं कर सकती।"

बेटी ने बिलखते हुए कहा, "तुम सब कुछ कर सकती हो। ज़रूर कर सकती हो।"

छठी बहन ने उत्तर दिया, "मैं तो कुछ नहीं कर सकती। लेकिन

पर जान देने वाले भाई उसे ठग रहे हैं! दौड़ी-दौड़ी भाभियों के पास गई। बोली—"भाभी, देखो, चांद निकल आया है। आओ कहानी सुनकर व्रत का उद्यापन कर डालें।"

भाभियां उसके भाइयों को जानती थीं। हंस पड़ीं। बोलीं—"तू ही अपने भाइयों की लाड़ली है। यह नया चांद तेरे लिए ही निकला है। तू खाना खा। हमारा चांद अभी नहीं निकला।"

काश! वे भाभियां भी ननद को प्यार करती होतीं और सच-सच बात बता देतीं! लेकिन भाइयों के प्यार की मतवाली वह भोली बहन! उसने उस छल को न पहचाना, और विधिवत् व्रत का उद्यापन करके भाइयों के साथ भोजन करने बैठ गई। विधि ने उसे चेतावनी देनी चाही। पहला ग्रास उठाते ही उसमें बाल निकल आया। दूसरे ग्रास में कंकड़ था और तीसरे ग्रास में भी कुछ ऐसा ही निकला। बहन का माथा ठनका। वह खाना न खा सकी···।

तभी अचानक ससुराल से खबर आई कि उसके पति बहुत बीमार हैं। वह तुरन्त उठ खड़ी हुई। कहां तो खुशियां मनाई जा रही थीं, कहां हाहाकार मच उठा। विधि का विधान देखिए। रोते-रोते मां ने जब बेटी को विदा करना चाहा तो उसे कोई रंगीन कपड़ा ही न मिला। पड़ोसियों ने कहा, "लाल डोरी देकर ही बेटी को विदा कर दो।"

करवा चौथ की देवी एक नहीं है। वे सात बहनें हैं। जब बेटी घर से विदा हो रही थी तो मां ने उससे कहा, "रास्ते में जो कुछ भी दिखाई दे उसे पैरों पड़ना कहना और अपने सुहाग का वरदान मांगना।"

बेटी ने यही किया। आदमी, औरत, पेड़, झाड़ी, नदी, तालाब, पशु-पक्षी सभी को वह पैरों पड़ना कहती। उसे करवा चौथ की देवी भी मिली। उसके पैर पकड़कर उसने कहा, "मां, मुझे सुहाग

का आशीर्वाद दो।"

देवी बोली, "तेरा सुहाग तो लुट चुका। मैं ऐसा आशीर्वाद कैसे दूं?"

सुनकर बेटी पछाड़ खाकर गिर पड़ी। सिसकते हुए उसने देवी से फिर प्रार्थना की, "मां, तुम तो सर्वशक्तिशालिनी हो। तुम चाहो तो सब कुछ कर सकती हो।"

देवी ने उत्तर दिया, "मैं कुछ नहीं कर सकती। आगे चलकर तुम्हें मेरी दूसरी बहन मिलेगी, शायद वह कुछ कर सके।"

बेटी रोती-रोती आगे बढ़ी। दूसरी बहन मिली। तीसरी मिली। चौथी मिली। पांचवीं मिली और छठी भी मिली। लेकिन कोई कुछ न कर सकी।···

सोचती हूं, उस बेटी की क्या दशा हुई होगी! क्या उसका दिल विदीर्ण नहीं हो गया होगा? कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि जैसे तीस साल के इस लम्बे जीवन में मैंने भी प्रतिपल उस दर्द का अनुभव किया है।··

यह मैं क्या लिख गई! मेरे सुहाग पर तो कभी संकट नहीं आया। भले ही मेरा हाथ कांपा हो, लेकिन मांग में सिन्दूर भरने का मेरा अधिकार आज तक कोई नहीं छीन सका। यह दूसरी बात है कि जिसके लिए सिन्दूर भरती हूं, वह हमेशा मेरे लिए दर्पण का व्यक्ति बना रहा, आंखों का नहीं बन पाया। लेकिन मैं तो वह कहानी सुना रही थी न!···

छठी बहन के पास जब बेटी पहुंची और उसके पैर पकड़े तो उसने भी वही उत्तर दिया, "मैं अब कुछ नहीं कर सकती।"

बेटी ने बिलखते हुए कहा, "तुम सब कुछ कर सकती हो। ज़रूर कर सकती हो।"

छठी बहन ने उत्तर दिया, "मैं तो कुछ नहीं कर सकती। लेकिन

हमारी सातवीं बहन निश्चय ही कुछ कर सकती है। वह बहुत कुरूपा है। तुम उसे देखकर डरना मत। उसके पैर भी छोड़ना मत।"

बेटी सातवीं बहन के पास पहुंची। कैसा विकराल रूप था उसका! मोटे-मोटे होंठ, आगे को निकले हुए बड़े-बड़े नुकीले दांत, आबूनस का रंग, लाल-लाल आंखें! खाऊं-फाड़ूं करती हुई वह बेटी की ओर लपकी। लेकिन बेटी के प्राणों में तो प्रियतम की मूर्ति थी। वह डरी नहीं। लपककर उसने उस दानवी के चरण पकड़ लिए। छोड़ती ही नहीं थी। बस यही कहती थी, "मां, मेरा सुहाग अचल कर दो। अचल कर दो मां! उसके पहले मैं यहां से नहीं जाऊंगी। छोड़ूंगी भी नहीं।"

देवी ने अनेक चेष्टाएं कीं, लेकिन सब व्यर्थ गईं। आखिर वह बोली, अच्छी बात है। "तुम मेरी बात सुनो। अपने पति के पास जाओ और उसकी देह को लेकर एकान्त में जाकर रहने लगो। किसी दिन शिव-पार्वती घूमते हुए वहां आएंगे। तब तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। लेकिन तुम मेरा व्रत बराबर करती रहना।"

बेटी घर पहुंची। वहां हाहाकार मचा हुआ था। लेकिन उसने एक भी आंसू नहीं गिराया। बस, पति की लाश को लेकर वह एक निर्जन वन में चली गई। वहां उसने एक कमरा बनवाया और अपने मृत पति के साथ जीवन बिताने लगी।

बारह वर्ष बीत गए—बारह लम्बे वर्ष! लेकिन बहुत लम्बे नहीं। कल की सी तो बात है। मेरा तुम्हारे साथ विवाह हुआ था। उस कल की बात को आज तीस वर्ष बीत गए हैं। सोचती हूं, कहां से आकर वे तीस वर्ष कहां चले गए। मैं आज भी अपने पति की स्मृति लिए हुए बैठी हुई हूं। लेकिन सौभाग्यशालिनी थी वह बेटी। बारह वर्ष बाद शिव-पार्वती उधर से गुजरे। नारी नारी के

दर्द को न पहचानेगी तो कौन पहचानेगा ? पार्वती ने बेटी को देखा तो सब कुछ समझ गई और भोले बाबा से बोलीं, "कितनी दुखी है यह बच्ची ! इसका सुहाग लौटा दो।

भोले बाबा हंस पड़े। बोले, "पार्वती, तुम नारियों का दिल बड़ा कोमल होता है। लेकिन तुम नहीं जानतीं कि इस लड़की ने कितना बड़ा अपराध किया है।"

पार्वती ने उत्तर दिया, "जानती क्यों नहीं महाराज ! लेकिन साथ ही यह भी जानती हूं कि वह अपराध अनजाने में हुआ है और फिर उसकी कितनी सज़ा भुगत चुकी है बेचारी। हर बात का अन्त होता है। क्या इसकी पीड़ा का अन्त नहीं होगा ? नहीं, आपको मेरी बात माननी ही होगी। इसके पति को जीवित कर दीजिए।"

शंकर ने उसी क्षण अपनी अंगुली काट डाली। उसमें से चूकर अमृत की कुछ बूंदें बेटी के पति के शव पर पड़ीं। वह ऐसे उठ बैठा जैसे हम सवेरे सोकर उठते हैं। काश ! आजकल भी शिव-पार्वती इस दुनिया में आते होते तो देख पाते कि उस बेटी जैसी एक और नारी मृत पति को लेकर नहीं, बल्कि एक जीवित पति को लेकर रो रही है। मांग में सिन्दूर भरकर भी वह सुहाग से वंचित है।...

लेकिन बीसवीं सदी में शंकर-पार्वती इस प्रकार नहीं घूमते। इसीलिए ये लम्बे तीस वर्ष उनकी प्रतीक्षा करते-करते बीत गए हैं। मेरा सुहाग मेरे सामने रहकर भी मेरा न हुआ। होता भी कैसे ! कहानी की उस बेटी की तरह तो मेरी कहानी नहीं है। इसीलिए नियति ने मेरे जीवन के चारों ओर जो ताना-बाना बुना है, वह बिल्कुल ही अलग है। मेरा जीवन व्यर्थ है। लेकिन क्यों ? क्यों उस सर्वशक्तिमान् प्रभु ने एक निरपराध के जीवन को निरर्थक बनाया है ? क्यों उसे दुहरी-तिहरी पीड़ा भुगतने पर विवश किया है ?

मैं फिर बहक गई। तुमने मुझे सामीप्य का सुख नहीं दिया, पर

उसके बदले में कितना कुछ दिया—दूरी का बोध, दर्द, शिकायत, अकेलापन, रिक्तता। यह सब न होता तो यह पत्र कैसे लिख पाती!

मैं नहीं जानती कि तुम्हें अपने मन की बात समझा सकूंगी भी या नहीं। अगर ऐसा होता तो ये लम्बे तीस वर्ष बंजर भूमि की तरह सूख न जाते। कोई झाड़-झंखाड़ भी तो उनकी रक्षा करने वाला नहीं था। आज मैं पहली बार महसूस कर रही हूं जैसे मेरे शरीर, मन और आत्मा में कहीं कुछ ऐसा स्रोत है जो इस बंजर भूमि को तोड़कर मुझे कहीं बहा ले जा रहा है। यह अनुभूति मेरे लिए बिल्कुल नई है। अब तक जो कुछ हुआ वह आज लगता है जैसे किसी भयंकर दुर्ग के कपाटों को तोड़कर तीस वर्ष के इस लम्बे फैले हुए पर्दे पर उभर उठा है। मेरे अन्दर कुछ है जो तिल-तिल कर मुझे कचोट रहा है, कचोट रहा है कि मैं लिखूं। इस सबको लिख डालूं। मुझे पहली बार ऐसा लग रहा है जैसे लिखना एक दोषारोपण हो। मानो मन की अदालत के सामने जज अभियुक्त पर आरोप पर आरोप लगाता चला जाता है। लेकिन नहीं, मैं आरोप नहीं लगाऊंगी। मैं तो बस अपनी बात कहूंगी। और अपराधी कौन है, जिसपर मैं आरोप लगाऊं? जुल्म करनेवाला अपराधी नहीं होता। अपराधी होता है उन्हें सहनेवाला।

लेकिन क्या मैंने जुल्म सहे हैं? किसने किए मुझपर जुल्म? यह कैसी बचकानी बातें मेरे मन में उठ रही हैं? मैं क्यों यह बात नहीं समझ पा रही? क्यों मन के वश में हुई जा रही हूं? तुम भी क्या सोचोगे कि कैसी बावली है! काश, मैं बावली हो पाती, तो

आज चालीस वर्ष की इस उम्र में मुझे यह पागलपन न सूझता ! मेरा सिर फटा जा रहा है। मेरी धमनियों में लहू बड़ी तेजी से दौड़ रहा है। मेरे जोड़ों में बड़े ज़ोर से पीड़ा हो रही है। मुझे ऐसा मालूम हो रहा है जैसे तीन वर्षों का यह संचित ज्वर मुझपर आक्रमण करने आ रहा है।

उस आक्रमण से पहले ही मैं तुमसे कुछ बातें तो कर लूं। मेरे इस अधिकार को कोई चुनौती नहीं दे सकता। तुम्हें तो अच्छी तरह याद होगा कि तीस वर्ष पहले तुम दूल्हा बनकर मेरी देहरी पर आए थे। कितनी अबोध थी मैं ! गुड़िया-सी ! नये-नये वस्त्रों में सजी, चांदी के रुपहले गहनों से लदी और मेहंदी में रंगी ! मैं अपने उल्लास को मन में दबाए एक कोने में चिपकी हुई मन और शरीर दोनों को उड़ाकर ले जाना चाहती थी। पर लाज कीअल्हड़ दीवार, मां-बाप का शासन, ये सब मुझे भीतर धकेल रहे थे। मेरी सखी-सहेलियां, बहन, हमजोलियां, सब मुझे तरह-तरह से हंसा-रुला रही थीं। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कि तब मेरे मन में कोई साफ तस्वीर नहीं थी। मैं जानती भी न थी कि क्या होने वाला है। एक तमाशा था जिसको मैं देख भी रही थी और उसका केन्द्र भी बनी हुई थी। एक बात मैं आज भी नहीं भूल पा रही हूं। आयु में कई वर्ष बड़ी मेरी एक सखी ने मुझसेआकर बड़े उल्लास से कहा, "रामो, तेरा बन्ना तो बड़ा सजीला है। रंग जैसे गोरा भभूका। आँखें धप-धप, गोल-गोल भरा हुआ मुंह। खूब हृष्ट-पुष्ट। जी करता है कि मैं उससे विवाह कर लूं।"

सच मानना, तब मेरे मन में ऐसा उठा था कि उस मुंहजली का गला दबा दूं। कलमुंही ! मेरे धन पर डाका डालना चाहती है !

कैसा है यह मेरा-तेरा ? तुम्हें देखा न सुना, बस मन में अपनेपन का भाव पैदा हो गया। और ऐसा पैदा हुआ कि आज तीस वर्ष बाद

भी खत्म नहीं हुआ। हो जाता तो यह चिट्ठी ही क्यों लिखती ? मुझे नहीं मालूम कि यह चिट्ठी पूरी भी हो सकेगी या नहीं। सच मानो, चिट्ठी लिखने का मेरा मन नहीं था। यह चिट्ठी तो ऐसी ही है जैसे जीवन के वाद मौत। मैं मौत नहीं चाहती। मैं तो निरन्तर तुम्हें चाहती हूं।

कैसा हो रहा है मेरा मन ! कहानी शुरू करती हूं तो समाप्ति पहले आ जाती है। यकीन मानना कि अगर यह पत्र तुम्हारे पास पहुंच जाए तो समझ लेना कि इसको लिखने वाली अव तुम्हारी नहीं है। मुझे विश्वास है, ऐसा सोचकर तुम्हें दुःख नहीं होगा। तुम तो इन वातों को मानते ही नहीं हो। कहते हैं, आजकल मूल्य बड़ी तेज़ी से वदल रहे हैं। मैं तो मूल्य की वात समझती भी नहीं। पर समझाने वाला कोई है, वही तो मुझसे पत्र लिखवा रहा है।

वह दिन जव तुमने पहले-पहल मेरे दिल में प्रवेश किया, वहुत सुन्दर था। कार्तिक का महीना ही तो था। पूर्णिमा वीत चुकी थी, गुलावी जाड़ा गहरा होता आ रहा था। हुल-हुल ध्वनि के वीच मैं एक शाल में लिपटी गुड़िया-सी तुम्हारे वरावर आसन पर वैठी थी। मन में कोई कह रहा था, तोड़ दे यह सव वन्धन, उतार दे ये सव वस्त्र, लेकिन ऊपर से सिर्फ इतना ही समझ पा रही थी कि हमारे गांव के पण्डितजी तुमसे कुछ कह रहे हैं और ज़ोर-ज़ोर से मन्त्र पढ़े जा रहे हैं। चारों ओर कोलाहल मचा हुआ है। वह कोलाहल, वह रुदन, वह हर्ष, वह अनुदान—कैसा खेल है यह प्रणय और मिलन का !

ये सव वातें तो आज समझ पाई हूं। उस दिन तो एक वहुत वड़ा शून्य मेरे चारों ओर विखरा हुआ था, और सवको रोते हुए देखकर मैं भी ज़ोर-ज़ोर से रो रही थी। किस तरह रथ में वैठकर तुम्हारे घर आई, किस तरह मैंने वहां तीन दिन विताए—यह सव

आज याद करके ही तुम्हें बताने को मन नहीं करता। तुम ऊब जाओगे। मेरे लिए भी कल की बीती बातें हैं, लेकिन तुम्हारे लिए तो ये बातें ऐसी हैं, जैसे पिछले जन्म की हों। मेरे लिए वह क्षण, जब मैंने पहली बार तुम्हारी आवाज़ सुनी, कैसा विलक्षण था! लेकिन क्या तुम्हें भी याद है? तुमने भी कभी आवाज़ सुनी?

निर्दयी, तुम्हारे पास कान ही कहां थे, जो मेरी आवाज़ सुनते! तुम तो बहुत दूर, किसी और दुनिया के आदमी थे। मैं तुम्हारी राह ताकती बैठी रही और तुम उस राह को लम्बी और लम्बी करते चले गए। तुम कभी लौटकर मेरे घर नहीं आए। मैं सुनती रही तुम्हारी कहानियां, जो मेरे कानों में रस उंडेलती रहीं। मेरे मुंह में मिश्री घुलती रही। तुम कहीं पढ़ने चले गए। चार साल तक तुम्हें वहां पढ़ना था और उसके बाद दूसरी बार तुम्हें मेरे घर आना था—गौना कराकर मुझे सदा के लिए ले जाने के लिए।

लेकिन वे चार साल कभी समाप्त नहीं हुए। इस क्षण तक नहीं हुए। तीस लम्बे वर्ष बीत गए, लेकिन वे चार वर्ष समाप्त होने को ही नहीं आ रहे। क्या कोई गणितज्ञ इस समस्या का हल कर पाएगा। गणितज्ञ क्या कभी किसी समस्या का हल कर सकते हैं? वे तो केवल समस्याओं को जन्म देते हैं।

चार साल बीते भी न थे कि समाचार मिला, तुम विद्यालय से घर नहीं लौटे, कहीं भाग गए। कैसा हाहाकार मच उठा था घर में! मेरी मां बिलख-बिलखकर रोती थीं। मुझे कोसती थी कि मैं अभागिन हूं।

मैं तब भी जैसे खोई-खोई-सी सोच रही थीं कि तू भागने वाला मेरा कौन है?

चौदह साल की हो गई थी। अनजाने ही एक नई तरंग मेरे मन में उभरती आ रही थी। कभी-कभी एकान्त में बैठकर रोने

लगती थी। पिताजी वार-वार घर से वाहर जाते और हफ्तों वाद लौटकर यही कहते, "कुछ पता नहीं लगा।"

सचमुच तुम्हारा कुछ पता नहीं लगा। मैं जानती हूं कि तुम्हें उन दिनों मेरी विल्कुल याद नहीं आई। आती तो शायद तुम भाग न पाते। पर आती भी क्यों? न मैंने रूप पाया है, न रंग। लेकिन क्या यह रूप-रंग प्रेम के लिए अनिवार्य है? सुना है, कि वह मजनूं जिस लैला के पीछे पागल था, वह तो कुरूपा थी। प्रेम रूप नहीं देखता। प्रेम हृदय की भाषा को पहचानता है। लेकिन तुम कैसे पढ़ पाते हृदय की भाषा! पढ़ी-लिखी भी तो नहीं थी कि तुम्हें पत्र पर पत्र लिखकर मोह लेती। तव पति को पत्र लिखना तो क्या, उसकी ओर देखना भी निर्लज्जता का द्योतक था।

परन्तु नहीं···आज मैं तुमसे कुछ नहीं छिपाऊंगी। मैं तुम्हें प्रेमपाती लिखा करती थी। उस पाती के अदृश्य अक्षर भौतिक आंखों से दिखाई नहीं देते। मन की अदृश्य आंखें ही उन्हें पढ़ पाती हैं। मैं नहीं जानती कि तुम उन्हें कभी पढ़ पाए! इतना ही जानती हूं कि तुम कभी लौटे नहीं। और समय पंख लगाकर उड़ता चला गया। उस सीमाहीन काल की छाती पर मेरी कितनी सिसकियां अंकित हैं, यह कौन वता सकेगा। इतना भी याद नहीं कि कितनी वार मेरी पलकें एक कड़वे धुएं से घुटी हैं। कितनी वार मेरे ऊपर पहाड़ टूटे हैं, लेकिन मैं कभी दवी नहीं। इस भयानक महासमुद्र में आशा के किसी तिनके के सहारे वस वहती चली आई हूं। शायद दस वर्ष वीत गए थे जव अचानक एक दिन किसी ने आकर सूचना दी कि तुम्हारा पता लग गया है।

तव हमारे घर में जैसे हर्ष का तूफान आ गया हो। खुशियों का वांध टूट गया और वह वांध हर चीज़ को तोड़ता हुआ सारे दुःख और सारी वेदनाओं को वहा ले गया। मैंने डरते-डरते अपने

चारों ओर देखना शुरू किया, छिप-छिपकर बातें सुनने में आनन्द आने लगा। जान गई कि रोते-रोते कैसे मुस्कराया जाता है। सच कहती हूं, चांद को देखकर मैं तब घण्टों खड़ी रहती थी। बहती हुई नदी में पैर डालकर मैं सवेरे से शाम कर देती थी। ऐसा लगता था कि इस बहाव में पड़कर मैं तुम्हारे चरणों के समीप पहुंच जाऊंगी। मैं बिल्कुल ही बदल गई थी। जानने लगी थी, कि दिल में कुछ उठता है और वह कुछ चाहता है। तब मेरी अवस्था बीस वर्ष थी।

बीस वर्ष की नारी! तुमतो महान् लेखक हो। जानते होगे कि यह बीस वर्ष की नारी कैसी होती है! आकाश से झरती किरणें प्रीतम की स्पंदित उंगलियां बनकर उसे सहलाने लगती हैं और वह मधुर-मादक सपनों में खो जाती है। न जाने कितनी बार तुमने उनका चित्रण किया होगा। आज लोग बड़े आदर और सम्मान के साथ तुम्हारा नाम लेते हैं। मानव-मन की गहराइयों में पैठकर अपने पात्रों का जो मनोविश्लेषण करते हो, उसपर सारी दुनिया मुग्ध है। मैं तुम्हें यह बताने की धृष्टता कैसे करूं कि बीस वर्ष की लड़की का दिल कैसे-कैसे करता है! सुनोगे एक कहानी—चांदनी रात थी। एक बीस वर्ष की लड़की के जीवन की चांदनी रात, जो किसी की राह में इन्तज़ार की घड़ियां गिन रही थी। तब उस चांद ने उससे क्या बातें कीं—चरम सार्थकता ने चरम निरर्थकता को कैसे-कैसे प्रलोभन दिए। पड़ोस में एक लड़का रहता था सजीला जवान, बदसूरत भी नहीं था। भला बीस वर्ष की आयु में किसी लड़की को कोई भी लड़का बदसूरत कैसे लग सकता है! डरते-डरते वह उसके पास आया। उसने उसे छूआ। पुरुष का वह पहला स्पर्श उसे अरुचिकर नहीं लगा…

लेकिन नहीं! मैं उन बातों का वर्णन नहीं करूंगी। वह लड़की मैं ही तो हूं। जो कुछ उसने मुझसे कहा था वह बहुत मीठा

और बहुत प्यारा था। मैंने आंखें मीचली थीं और तब उस पूर्णिमा की रात में मेरे अन्तस्तल पर एक मूर्ति उभरी और वह मूर्ति थी एक गोरे रंग के हृष्ट-पुष्ट बालक की। मैंने उसको छूना चाहा तो सहसा मेरा हाथ जैसे किसी दहकते तवे से टकरा गया हो। वह नवयुवक साथी हंस-हंसकर बातें कर रहा था, लेकिन वह स्पर्श होते ही न जाने क्या हुआ, मैं जैसे जल उठी। मैंने बड़ी तेज़ी से उस युवक को धक्का दे दिया। वह लड़खड़ाकर गिर पड़ा। और मैं वहां से लथपथ भागती हुई अपने घर की कोठरी में जा घुसी। कितनी बोझिल हो उठी थी वह कोठरी तब ! किवाड़ बन्द करके ऐसे पड़ गई जैसे मेरा सब कुछ लुट गया हो। जैसे किसीने लोहे की तप्त शलाका से मेरे अंग-अंग दाग दिए हों। जैसे किसीने मेरी आंखों में जलती हुई सुइयां भोंक दी हों। मेरा रोम-रोम चीख उठा। मैं जाऊंगी, आज ही जाऊंगी। संस्कार-बोध की ये गाठें आदमी को कैसे जकड़ लेती हैं ! फिर कैसा कसमसाता है वह ! मैं चाहती थी फूल-सा हलकापन, मिलीगांठ और गाठें···

समाचार पाकर पिताजी तभी चले गए थे। तीन दिन बाद लौट भी आए पर उनका वह मुर्झाया हुआ चेहरा, जैसे श्मशान से लौटे हों। उन्होंने माताजी से कहा, "उसका पता तो लग गया है, लेकिन वह संन्यासी हो गया है।"

मां हतप्रभ-सी बोली, "संन्यासी हो गया है।"

और फिर वह मौन हो गई। तब तुम शायद पच्चीस वर्ष के रहे होगे। पच्चीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचारी रहने की बात मैंने सुनी थी। लेकिन उसके बाद, सीधे दो आश्रम पार करके संन्यास

ले लेने की बात पर मन ने विश्वास नहीं किया। विश्वास करने की बात थी ही नहीं। प्रकृति के नियम तोड़ना आसान बात नहीं है। लेकिन तुम क्या आसान बातें करने के लिए बने हो! अपने लिए तुमने जो मार्ग चुना, वह हमेशा ही परम्परा से अलग था। लेकिन तुमने क्या कभी यह भी सोचा कि तुम्हारा कोई और भी साथी है जो तुम्हारी छाया का अनुगामी है ?

पिछले दस वर्षों में मेरे मां-बाप काफी बूढ़े हो गए थे, लेकिन अब तो उनके सामने एक ही मार्ग शेष रह गया था और वह मार्ग था मृत्यु का।

तिल-तिल करके कैसे वह मौत के पास गए—यह दर्दभरी कहानी मैं तुम्हें नहीं सुनाऊंगी। वेदना, पीड़ा और त्रास, तुम्हें इन सबका खूब परिचय है। तुम्हारी रचनाओं में मैंने त्रास को पास से देखा है। उसे अनुभव कर सिसकी भी हूं। लेकिन, क्या तुमने भी कभी अनुभव किया है कि त्रास कैसा होता है ? किस तरह वह रोम-रोम में विंधता चला जाता है ?

नहीं, मैं उसके बारे में कुछ नहीं कहूंगी। मुझे वह क्षण आज भी याद है, जब मेरी मां मृत्यु-शय्या पर पड़ी थी। शायद कुछ ही मिनट शेष थे उसके जीवन के, जब उसने मुझे अपने पास बुलाया। वह मुझे अक्सर कोसती ही रहती थी, लेकिन मैं जानती हूं कि उसका वह आक्रोश ममता ही का दूसरा रूप था। चन्दन भी तो जलकर कोयला ही बन जाता है। मां की ममता भी बेटी के दुर्भाग्यरूपी दावानल में जलकर कोयला बन गई थी। और तुम जानते हो, कोयला तो काला ही करता है। लेकिन उस क्षण जैसे वह कोयला दहक उठा। मेरा हाथ अपने वक्ष पर रखकर उसने इतना ही कहा, "बेटी, तुम्हारे इतने बड़े दुर्भाग्य को मिटाने का मैं कोई रास्ता नहीं ढूंढ़ सकी। तुम्हारे दुःख को दूर करने के लिए मैंने कुछ नहीं किया।

उसे वढ़ाया ही है। लेकिन अव तो मैं जा रही हूं। एक वात कहती हूं, तू वहीं चली जाना। पति की देहरी पर ही तेरा कल्याण हो सकता है। वह ज़ालिम एक दिन लौट आएगा और तेरी तपस्या से प्रभावित होगा।"

फिर कुछ क्षण वह चुप रही। एकाएक उसके चेहरे का भाव पलटा। दहकता हुआ अंगारा जैसे चरम सीमा पर पहुंचकर फिर विखरने लगा हो। उसने मुझसे कहा, "रामो, देख, अगर तेरे मन में वहां जाने की वात न हो तो मत जाना। और···और···तू···।"

मैं एकाएक कांप उठी। मां क्या कहना चाहती थी, यह समझने में मुझे देर नहीं लगी। लेकिन वह सव समझकर मेरी इन्द्रियों ने जैसे काम करना छोड़ दिया। परन्तु उसी क्षण मेरी दृष्टि मां के मुख पर गई। उसकी अधमुंदी आंखों में कोई आकांक्षा शेप नहीं थी। उसकी गर्दन एक ओर को लुढ़क चुकी थी। मैं चीत्कार कर उठी। क्या वह यह कहने के लिए ही अव तक वची थी···?

लेकिन मैं हतप्रभ, कुछ कर पाती कि मेरी चीत्कार सुनकर सारा घर वहां आ गया। उसके वाद क्या हुआ, यह वताना व्यर्थ है। वताना इतना ही है कि मां जो कुछ कहना चाहती थी वह यही था कि मैं चाहूं तो दूसरी शादी कर सकती हूं। यह पाप नहीं है। मैं जानती हूं कि तुम इस वात का समर्थन करोगे। लेकिन मां जिन संस्कारों में पली थी उनमें इसका समर्थन नहीं हो सकता था। ऐसा लगता है, मृत्यु के पास पहुंचती हुई मेरी मां संस्कारों से मुक्त हो चुकी थी। रह गई थी केवल एक नारी। मैं भी तो नारी हूं। और नारी ही नारी की वात समझ सकती है। मां मेरी व्यथा को समझ गई थी। उससे मुक्ति दिलाने के लिए ही उसने मुझे यह अन्तिम आदेश दिया था।

वह चली गई। कुछ दिन वाद पिताजी भी चले गए। यह सव एक साल के भीतर ही हो गया। उसके वाद मैं थी भी और नहीं भी। 'थी' इस अर्थ में कि मेरा भौतिक शरीर चलता-फिरता और रोता-विलखता था। 'नहीं' इस अर्थ में कि मेरी भावनाएं मर चुकी थीं और मेरा मन अपनी शक्ति खो वैठा था। जैसे मैं गांठों का एक वण्डल-मात्र थी, जहां न खुलाव था और न निर्वन्धता। निस्सीमता भी नहीं थी। मैं जीवन चाहती थी, लेकिन मुझे मिल रही थी जड़ता। मैं मुक्ति चाहती थी, लेकिन मुझे मिल रहा था वन्धन। करवा चौथ की कहानी की उस लड़की की तरह मेरे भाई मुझे प्यार नहीं करते थे। करते तो मैं तुम्हें पा न जाती। वे मुझ अभागिन को फूटी आंखों से भी नहीं देखते थे। जिस नारी को उसका पति ही न चाहे, तो उसे और कौन चाहेगा! कैसा है हमारा यह जड़ धर्म-विधान! नारी स्वयं में कुछ नहीं है। पति को लेकर ही आत्मीयता, सहानुभूति और आकर्षण उसे मिलता है।

लेकिन कुछ भी हो, इन वातों ने वल दिया, और विद्रोह की ज्वाला को अन्तर में धारण करती हुई मैं इस निर्णय पर पहुंची कि मुझे अपने घर जाकर रहना चाहिए।

अपना घर, तुम्हारा घर ही तो मेरा अपना घर है। इसलिए मैं तनिक भी विचलित नहीं हुई। और एक दिन सचमुच मैंने अपने-आपको तुम्हारे घर में पाया। लेकिन तुम्हारा भी क्या कोई अपना घर था! न जाने कव के तुम्हारे मां-वाप मर चुके थे। तुम्हें संभवतः उनकी याद भी न होगी। चाचा के घर में तुम वड़े हुए। मैं कल्पना कर सकती हूं कि वेदना की उस काली छाया में तुम कैसे वड़े हुए। तुम्हारी रचनाओं में मैंने उस दर्द को वहुत पास से देखा है। तुम्हारे उस तथाकथित घर की देहली पर जाकर मैंने स्वयं उसे फिर से अनुभव किया।

रात गहरी होती आ रही है। इस सन्नाटे में झींगुरों की आवाज़ कितना शोर मचा रही है! और आले में रखी हुई लालटेन मुझे भभक-भभकर चेतावनी दे रही है। उसकी धुंधली रोशनी, उस हिलते हुए प्रकाश में, जो मेरी छाया को भी हिला रहा है, मैं तुम्हारी मूर्ति को स्पष्ट देख रही हूं। वह मूर्ति जिसमें तुम्हारे पूरे जीवन का इतिहास छपा है। आज इस अतुल प्रसिद्धि के युग में शायद तुम उसको भूल गए होगे। लेकिन मेरे सामने तो सब कुछ स्पष्ट है।

जब मैं पहली बार यहां आई, तो पास-पड़ोस की औरतें कौतूहल से मुझे देखने आईं। मेरे मन में बहुत कुछ उमड़-घुमड़ रहा था। मैं उनसे ठीक-ठीक बातें भी नहीं कर पाती थी। उनमें से बहुतों ने मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की उनकी आंखों में आंसू भी आए। छलछलाते प्रेम से उन्होंने मेरी ओर देखा। कितना आकर्षण और कितना स्नेह था उन दृष्टियों में! उनमें से कुछ मेरी मां की उम्र की थीं, कुछ मेरी उम्र की भी थीं। एक वृद्धा ने, जो नाते में शायद तुम्हारी कुछ लगती भी थी, मुझसे कहा था, "वह अभागा तो ऐसा ही है। उसने मां-बाप को कोई सुख नहीं दिया, तुझे भी वह कैसे सुखी करता! तेरे सामने तो यह पहाड़-सा जीवन पड़ा है। कैसे करेगी तू?"

कुछ औरतें ऐसी भी थीं जिन्होंने मुझे ही कोसा। कहने लगीं, "अभागिन अपने भाग्य के साथ घर को भी ले डूबी।"

कुछ ऐसी भी थीं जो भाग्य को नहीं मानती थीं। केवल इतना ही जानती थीं कि मैं दुखी हूं और दुखी के साथ केवल सहानुभूति ही प्रकट की जा सकती है। वे मेरे पास आतीं। अपने सुख-दुःख की बातें करतीं और मेरे मन की थाह लेने की कोशिश करतीं। इक्कीस वर्ष की उस मादक अवस्था में मुझे उनकी आंखों की भाषा पढ़ने का ज्ञान न हो, यह बात नहीं थी। मैं उनके मन को पढ़ लेती थी और तब मुझे

ऐसा लगता था जैसे मेरे रोयें-रोयें में अग्नि धधक उठी है। मैं जानती हूं कि उनकी दृष्टि में सच्चा स्नेह था, पर उस स्नेह को बल कहां से मिलता था, यह भी तो जाने विना न रह पाती थी। लेकिन हर चीज़ की अपनी रुत होती है, गुलदस्तों में ताज़े फूल सजा देने से वसन्त नहीं आ जाता।

धीरे-धीरे दिन वीतते जा रहे थे। मैं नित्यप्रति तुम्हारे उस घर को वनाती-संवारती जा रही थी—इस आशा से कि एक दिन तुम लौट आओगे। मैंने उन दिनों को गिनने-भुलाने के लिए क्या-क्या न किया! आपादमस्तक अपने को काम में डुवा दिया। पड़ोसियों के सुख-दुःख को अपना ही मानने लगी। मानने लगी कि किसी एक की न होकर सवकी वन जाने में ही मेरा कल्याण है। लेकिन निर्दयी मेरे दिल की दुनिया से तुम्हारी वह मूर्ति कभी दूर नहीं हुई। तुम कहीं दूर देश चले गए थे। कभी-कभी मैं तुम्हारे साहस की कहानियां सुना करती थी। कभी कोई रिश्ते का देवर आकर मुझसे कहता, "भाभी, भैया वीहड़ जंगलों को पार करके वर्फ की ऊंची-ऊंची चट्टानों को लांघते हुए कहीं दूर देश चले गए हैं।"

कभी दूसरा देवर आता और सुना जाता, "भाभी, भैया तो समुद्र पार के मुल्क में हैं।"

वचपन में मैंने अपनी दादी से उस राजकुमार की कहानी सुनी थी जो अपने मन की राजकुमारी को पाने के लिए सात समुद्र पार जाया करता था और वड़े-वड़े वीहड़ वन, जंगल और पहाड़ पार करके किसी दानव की नगरी में कैद की हुई राजकुमारी को छुड़ा लाता था। क्या तुम्हारी राजकुमारी भी कहीं कैद थी?

ये सव वातें सोच-सोचकर मैं कल्पनाओं का आलजाल वुनने लगती। मुझे लगता जैसे मैं प्यासी हूं। इतनी प्यासी कि सातों समुद्रों का खारा पानी भी मेरी प्यास नहीं वुझा सकता। और न

हिमालय की ऊंची-ऊंची चोटियों का शाश्वत हिम भी मेरी अग्नि को शान्त कर सकता है। मेरे जैसा कोई व्यक्ति तुम्हें प्यार कर सकता है, यह विचार मन में आते ही मैं क्रोध से कांप उठती थी और ग्लानि से मेरे आंसू वह निकलते थे। सहसा एक दिन दौड़ा-दौड़ा एक देवर मेरे पास आया। वह चीखा-चिल्लाया नहीं। ऐसे चुपचाप आया जैसे कोई रहस्यमयी बात कहनी हो। उसने मुझे बहुत धीरे से पुकारा, "भाभी, तुम कहां हो?"

अन्दर की कोठरी से आकर मैंने उसे देखा। वेदना की एक गहरी छाया उसकी आंखों में उभर रही थी। किसी आशंका से सकपकाकर मैंने पूछा, "क्या बात है?"

वह बहुत धीरे से बोला, उसकी वाणी में जैसे व्यथा उभर आई हो। कहा, "भाभी, गजब हो गया।"

हतप्रभ विमूढ़! मैं बोली, "क्या हुआ?"

"भैया ने शादी कर ली।"

"क्या?"

वह मुझे विश्वास दिलाता हुआ बोला, "सचमुच भैया ने शादी कर ली है। मैं ठीक कहता हूं। यह देखो, इस अखबार में लिखा है।" और वह तेजी से पढ़ने लगा—"स्वामी प्रणवानन्द भारत के प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक हैं। उन्होंने किशोरावस्था में संन्यास धारण कर लिया था। लेकिन अभी पिछले हफ्ते उन्होंने अनुभव किया कि वह इस आश्रम के योग्य नहीं हैं, इसलिए बड़े साहस के साथ उन्होंने इसका परित्याग कर दिया। यही नहीं, उन्होंने विवाह भी कर लिया। हम जानते हैं कि प्राचीन पन्थी उनके इस कार्य से बहुत ही अप्रसन्न होंगे। लेकिन ऐसा करके उन्होंने जिस साहस का परिचय दिया है वह निश्चय ही अभिनन्दनीय है। जीवन की सम्पूर्णता को समझने के लिए मनुष्य का गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना आवश्यक

है। तत्त्वज्ञानी शंकर को भी इस आश्रम का अनुभव प्राप्त करने के लिए कुछ समय के लिए दूसरे मनुष्य के शरीर में प्रवेश करना पड़ा था। हमारी दृष्टि में उन्होंने कोई पाप नहीं किया।"

इतना पढ़कर वह चुप हो गया। लेकिन तव मेरे मन में जो ववण्डर उठा, उसका केन्द्र थे तुम। आश्चर्य, पहले क्षण मैं वहुत प्रसन्न हुई थी, क्योंकि तुम राह पर लौट रहे थे। वेशक उसका कारण मैं न थी, परन्तु मेरी इच्छा तो यही थी कि तुम अपनी डगर पर लौट आओ। तुम लौट आए थे, लेकिन मैं तो जैसे वहुत पीछे छूट गई थी। तुमने, जो अपने पास था, उसको स्वीकार कर लिया, लेकिन जो पीछे रह गया था उसका ध्यान भी नहीं किया। इसी तथ्य ने कुछ क्षण वाद मुझे जैसे पागल कर दिया। मैं क्रोध से थर-थरा उठी। मैंने चीखकर कहा था, "यह नहीं हो सकता। नहीं होगा। यह अन्याय है।"

और फिर मैं गिर पड़ी थी। यों तो मैं ठोकर खाकर गिरी थी। मेरा माथा फट गया था। लेकिन सच वात इतनी ही है कि मैं संज्ञा-हीन होकर गिरी थी और मैं तुम्हारा रक्त वहाना चाहती थी। जव मेरी आंख खुली तो मैंने पाया कि मेरे सिर पर पट्टी वंधी हुई है। तीव्र ज्वर से मेरा अंग-अंग दहक रहा है।

आंखें खोलकर डरते-डरते मैंने चारों ओर देखा। रिश्ते के मेरे कई देवर, कई सासें मेरे चारों ओर इकट्ठी हो गई थीं और मूर्तिवत् सजलनयन सव मेरी ओर देख रही थीं। क्षण आए और गए। किसीने कुछ नहीं कहा। मैंने भी कुछ नहीं कहा। जो समुद्र-मन्थन मेरे अन्तर में चल रहा था, उसीमें मेरी वाणी खो गई थी। क्या प्यार का यही परिणाम होता है? क्यों आखिर आदमी किसी-को प्यार करता है? नारी क्यों पुरुष की ओर आकर्षित होती है? यह सव व्यर्थ है क्या? मेरी जैसी ही एक नारी तुम्हारा प्यार पाने

की अधिकारिणी वनी है। वह तुम्हारे प्रत्येक अंग का, मन और आत्मा का स्पर्श पाती होगी। तुम्हारे साथ हंसती-रोती होगी। तुमको खिलाती-पिलाती होगी। तुम्हारी शय्या संजोती होगी। वह सव कुछ करती होगी जिसका मुझे कुछ भी अनुभव नहीं है। चालीस साल के इस लम्बे जीवन में, मैंने तुमको पास से देखा ही नहीं है। पर क्या अंग-स्पर्श हुए विना प्यार नहीं हो सकता ?

मैं भी कैसी मूर्ख हूं ! एक वात कहती हूं कि दूसरी में उलझ जाती हूं। तुम शायद इस पत्र को पढ़कर भी नहीं पढ़ पाओगे। खैर, जाने दो इन वातों को। मुझे याद है, एक-एक करके वे सव वहां से चले गए थे। रह गया था केवल एक देवर। आज मैं तुम्हें कैसे वताऊं कि वह मुझे कितना प्यार करता था ! अक्सर मेरे पास वैठकर मेरी ओर देखता ही रहता था। उस दिन भी वह वैठा ही रहा और एकटक मुझे देखता रहा। मैंने धीरे-धीरे दृष्टि घुमाकर उसे देखा। फिर पूछा, "क्या देख रहे हो दीपू ?"

उसने धीरे से गर्दन घुमाकर फुसफुसाते हुए कहा, "देख रहा हूं, तुम किस मिट्टी की वनी हो ! कैसे जी रही हो ! जी रही हो तो धधक क्यों नहीं उठतीं !"

मैं उसी तरह निःसंग भाव से वोली, "दीपू, ठीक यही वात मेरे मन में उठ रही है। मैं अव धधक उठना चाहती हूं और सव कुछ को भस्म कर देना चाहती हूं। मेरी मदद करोगे !"

दीपू वोला, "क्या करने को कहती हो, वोलो !"

मैंने कहा, "मुझे वहां ले चलो।"

वह हंस पड़ा, "भाभी, वहां जाना हरएक के वस की वात नहीं है। वहां तो विशिष्ट व्यक्ति ही जा सकते हैं...विद्वान्, साहित्यकार या नेता। ऐसा कोई भी तो गुण नहीं है।"

मैंने कहा, "तुम भूलते हो दीपू। मैं विद्वान्, साहित्यकार, नेता

कुछ भी नहीं हूं। लेकिन जो सब कुछ है उसकी परिणीता तो हूं। यह मेरा अधिकार है और इसी अधिकार के बल पर मैं वहां जाऊंगी।"

दीपू की आंखें चमक उठीं। बोला, "हां, यह अधिकार तुम्हारा है और इस अधिकार को दुनिया के सामने प्रकट करने में मैं तुम्हारी सहायता करूंगा।"

तब जैसे क्षण-भर में सारा मालिन्य कच्चे रंग की तरह धुल गया। मेरी अंधेरी कोठरी में आलोक बिखर-बिखर उठा, और मैं, युग-युग की प्यासी, उस आलोक को अपने अन्तर में भरने लगी। लेकिन, लेकिन मैं तुमसे कुछ नहीं छिपाऊंगी। यह बिल्कुल सच नहीं है। उस आलोक के बीच में लपलपाती हुई लपटें भी उठ रही थीं और मैं स्पष्ट पढ़ सकती थी, उनपर लिखा हुआ था 'प्रतिशोध'।···

सहसा दीपू उठा। बोला, "अच्छा भाभी, मैं जा रहा हूं। देखूंगा, क्या हो सकता है।"

मैंने कहा, "दीपू, रुको।"

उसने रुककर मेरी ओर देखा। दृष्टि से दृष्टि मिली। वह मुस्कराया। मैं भी जैसे खिल उठी। मैंने तुरन्त कहा, "अच्छा जाओ।"

दीपू चला गया और उस दिन पहली बार मैंने यह अनुभव किया कि मैं अकेली नहीं रह सकती। मैं चाहती हूं, तुम मेरे पास रहो। तुमपर मेरा अधिकार है।

मैं नहीं बता सकती कि उसके बाद मेरे दिन किस तरह गुज़रे। मैंने अपनी कल्पना के संसार में जीवन के कैसे ताने-बाने बुने, लेकिन हुआ वही जो बहुत पहले कबीर नाम का एक जुलाहा लिख गया था। उस ताने-बाने से जो चादर मैंने बुनी थी, उतारकर उसे वैसे का वैसा ही रख दिया। कई दिन बाद दीपू ने आकर मुझसे कहा,

"भाभी, तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि भैया कुछ दिन के लिए देश वापस आ रहे हैं। शादी के तुरन्त बाद वे विदेश चले गए थे।"

न जाने क्या हुआ, स्वयं अपने को अचरज में डालते हुए मैंने कहा, "दीपू, वे आएं या न आएं, मैंने निश्चय कर लिया है, मैं उनके पास नहीं जाऊंगी।"

विस्मित-विमूढ़ दीपू मेरी ओर देखता रह गया। एक क्षण बाद बोला, "क्या तुम समझती हो, कि भैया स्वयं यहां चलकर आएंगे ?

मैंने कहा, "मैं कुछ नहीं जानती, लेकिन मैं यहां से कहीं नहीं जाऊंगी।"

दीपू ठहाका मारकर हंस पड़ा, "मैं समझ गया, तुम्हें यशोधरा की याद आ गई है।"

मैंने कहा, "यशोधरा, कौन थी वह ?"

दीपू उसी तरह हंसता हुआ बोला, "अच्छा, तो तुम मुझे यह बताना चाहती हो कि तुम यशोधरा के बारे में नहीं जानतीं। तुमने महात्मा बुद्ध की कहानी नहीं सुनी ? यशोधरा उनकी पत्नी थी और वे पूर्वाश्रम में राजकुमार सिद्धार्थ थे। वे मृत्यु को जीतना चाहते थे; इसीलिए एक निर्जन रात्रि में अपनी परम सुन्दरी पत्नी और उसके अबोध शिशु को छोड़कर ज्ञान की खोज में निकल पड़े थे। एक दिन वे बुद्ध बनेऔर संसार का उद्धार करने के लिए इधर-उधर घूमने लगे। घूमते-घूमते वे पिता के घर भी आए। सारा नगर उनको देखने के लिए उमड़ पड़ा। माता-पिता भी उन्हें देखने गए। उनका बालक भी गया, लेकिन नहीं गई तो केवल एक उनकी यशोधरा ही नहीं गई। उसका यही कहना था, वे मुझे यहीं छोड़कर गए थे, यहीं आकर मुझसे मिलेंगे। और महात्मा बुद्ध को उस मानिनी का मान रखने के लिए वहीं आना पड़ा था।"

यह कहानी सुनकर मेरी आंखें झर पड़ीं। जैसे मेरा मान बह चला हो। मैंने कहा, "तुम किससे मेरी तुलना करने चले हो? कहां स्वर्ग की वह देवी, जो अपने नारीत्व को सार्थक कर सकी और विश्व-देवता को अपने चरणों पर झुका सकी, कहां मैं नरक का विलविलाता एक कीड़ा, जो नारी के अपमान और लज्जा का कारण बन सका है!"

एकाएक दीपू चीख उठा, "अपना अपमान करना सबसे बड़ा पाप है। आज कहे देता हूं कि एक दिन उसे आकर यहां प्रायश्चित्त करना होगा।"

मैं सहसा कुछ उत्तर न दे सकी। एक झटके के साथ वहां से चली गई और कोठरी के फर्श पर लेटकर पीड़ा की गहराइयों में भटकने लगी। लेकिन उस दिन क्या यह नई बात थी! न जाने कितनी बार मैं उस नंगे फर्श पर धरती माता की छाती से छाती जुड़ाकर तड़पी हूं। मेरी छाती की आग को धरती मां ही तो सहती आई है, नहीं तो इस बीसवीं सदी में मैं कितनी बार भभक उठी होती, और उस ज्वाला में तुम भी भस्म हो गए होते!

दीपू चला गया। कई दिन तक आया ही नहीं। उन कई दिनों में मैं एक भयंकर छाया के साये में जीती रही, फिर एकाएक मुझे सूझा, क्यों न मैं पढ़ना शुरू कर दूं!

और मैं पढ़ने लगी। मेरी हमजोलियों ने, जिनमें मेरी कई देवरानियां और ननदें भी शामिल थीं, मेरी इस हरकत को अच्छी नजर से नहीं देखा। लेकिन दीपू बहुत प्रसन्न हुआ, इतना प्रसन्न कि घण्टों मेरे पास बैठकर मुझे पढ़ाने लगा। तुम्हें यह सुनकर अचरज होगा कि मैं रात को देर-देर तक बैठी पढ़ती रहती थी। क्योंकि मैं जानती थी कि तुम बहुत बड़े लेखक हो। तुमने बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। मैं उन्हें पढ़ना चाहती थी और चाहती थी कि मैं अपनी

कहानी लिख सकूं। दीपू ने मुझे बताया कि आदमी जब लक्ष्य को देख लेता है, तो बस उसे पा ही लेता है।

इस नये जीवन के ताने-बाने में उलझकर फिर बहुत-से दिन बीतते चले गए। दिन महीने बने, महीने वर्ष बन गए। मैं अब बहुत अच्छी तरह पढ़ सकती थी। लिख भी सकती थी। एक दिन सोचा कि तुम्हें पत्र लिखूंगी। लिखने लगी, कांपते हाथों से यही संबोधन लिखा जो आज लिख रही हूं। कितने दिन पुरानी बात है! शायद पन्द्रह वर्ष से भी अधिक बीत गए हैं। संबोधन लिखने के बाद सोचा, क्या लिखूं? क्या यह लिखूं कि मैं तुम्हारी पत्नी हूं? कैसी मूर्खता है! तुम्हारी पत्नी तो तुम्हारे साथ रहती थी, फिर मैं तुम्हारी कौन हूं? धर्म को साक्षी करकेअग्नि के चारों ओर फेरे डालकर बालपन की उस अल्हड़ अवस्था में मैं तुम्हारीपत्नी बनी। पर उस अधिकार को जताने का अवसर मेरे जीवन में कभी नहीं आया। फिर मैं पत्र कैसे लिखूं, क्यों लिखूं? नहीं-नहीं, मैं पत्र नहीं लिखूंगी।

और मैंने तभी उस पत्र को चीर-चीरकर फेंक दिया। तुम विश्वास नहीं करोगे। मैंने उन टुकड़ों को फिर से चुना और आग में जला दिया। उस राख को तब तक मलती रही थी, जब तक वह कालस बनकर न रह गई थी।

उस दिन के बाद मैंने पढ़ना भी छोड़ दिया था। पढ़ने के सहारे मैंने जिन गरमी की लम्बी दुपहरियों और सरदी की लम्बी रातों को क्षणों में काट दिया था, वे ही अब फिर मेरेलिए असह्य हो उठीं। मेरा मन भी ईर्ष्या से कलुषित-सा होता जा रहा था। मैं चिड़चिड़ी हो उठी थी। मौके-बेमौके तुम्हारी पत्नी को कोसा करती थी। मैंने दीपू से मिलना भी छोड़ दिया था। छोड़ क्या दिया था, वह स्वयं शहर चला गया था। लेकिन यह अशान्ति भी बहुत दिनों तक परेशान न कर सकी। आसपास के सभी लोगों ने इस सत्य को

स्वीकार कर लिया था कि तुम अब लौटने वाले नहीं हो। उनकी संवेदना और सहानुभूति इसीलिए अब समाप्त हो चुकी थी। वे मेरे लिए एक निश्चित मार्ग निर्धारित कर चुके थे। भ्रम और मिथ्या जैसे अब कुछ नहीं रहा था। मुझे जैसे जीवन से मुक्ति मिल गई। और मैं स्वतन्त्र थी, अपने लिए अब एक नया जीवन चुनने को।

मैंने नया जीवन चुना। कैसे चुना, यह बताने लगूंगी तो शायद बता नहीं पाऊंगी। आदमी अपने को संपूर्ण रूप से कभी नहीं जानता। कुरेद-कुरेदकर न जाने कितनी परतें खोद लेता है। लेकिन फिर भी वहुत-सी परतें छिपी रह जाती हैं। केवल तर्क से ही तो सब कुछ सिद्ध नहीं होता। मैं तो कहूंगी कि तर्क से तो सिद्ध होता ही नहीं। इस रास्ते पर चलकर आदमी यन्त्र ही बना है। मन्त्र वह कभी नहीं पा सका। तुम सोचोगे कि यह ज्ञान मुझे कहां से मिला। उस दिन की वात क्या वताऊं! क्या वताऊं कि वे दिन कैसे थे! कितना परिवर्तन हो गया था मेरे जीवन में! दीपू का एक वड़ा भाई था। वह मुझसे इतना दूर था जितना दीपू पास। अचानक एक दिन उसकी पत्नी इस संसारसे चल वसी। मैं उस समय उसके पास थी। उसके मुख पर दृष्टि गड़ाए देख रही थी कि यह क्या है जिसे हम चेतना कहते हैं? फिर यह चेतनता कहां चली जाती है? मुझे ठीक याद है कि उस कमरे में सन्नाटा गहर-गहर वोल रहा था। मेरी देवरानी की आंखें वन्द थीं। सहसा वे खुलीं। उसने मेरी ओर देखा और फिर उसकी दृष्टि अपने वच्चों पर जाकर टिक गई। पांच वर्ष का भोलाभाला-सा लड़का और तीन वर्ष की फूल जैसी लड़की। उसके वाद जैसे सवकी दृष्टि उधर ही उठ गई हो। उन्हें उसने अपने पास वुलाया। लेकिन वह रोई नहीं। उनके सिर पर हाथ रखकर उसने फिर चारों ओर देखा। मुझे भी देखा। वह दृष्टि जैसे मेरे अन्तर को वींधती चली गई। मैं यन्त्रवत् उसके

पास खिंच आई। उसने मेरा हाथ पकड़ा और फुसफुसाई, "तुम्हारा दर्द इनके दर्द के साथ मिलकर शायद कुछ कम हो सकता है।"

बस इतना ही उसने कहा, उसके बाद जब मुझे होश आया तो वहां हाहाकार मचा हुआ था।

उसके बाद क्रियाकर्म का वह झमेला। कई दिन बीत गए। उसके घरवालों ने मुझसे कुछ नहीं कहा। लेकिन मुझे न जाने क्या हो गया। घण्टों उनके घर जाकर बैठने लगी। सुख-दुःख में हाथ बंटाने लगी। यहां तक कि खेत पर जाकर काम भी करने लगी। लेकिन मेरी इन सारी प्रवृत्तियों के केन्द्र थे वे दोनों बच्चे। मैं जैसे उनको अपने में समेट लेना चाहती। उन बच्चों के दादा थे, लेकिन दादी नहीं थी। ताई थी। जब शोक-संवेदना का युग समाप्त हो गया, तब दीपू के भाई को ऐसा लगने लगा जैसे वे बच्चे उसपर भार बन गए हों। उसकी भाभी के अपने और बच्चे थे और यह सम्भव नहीं था कि वह इनकी भी मां बन सके। दीपू का भाई बूढ़ा नहीं हुआ था। उसके लिए दूसरी शादी करना बहुत आसान था और सच तो यह है कि तेरहवीं के दिन से ही उसकी शादी की चर्चा चल पड़ी थी। पुरुष नारी के बिना रह ही नहीं सकता। लेकिन नारी विवश कर दी जाती है कि वह पुरुष के बिना रहे। इसलिए हमारे शास्त्रों में हिन्दू विधवा को दुःख की प्रतिमा मानकर भी स्वर्ग की देवी बना दिया है। बड़े गौरव के साथ वे लोग कहते हैं, 'हिन्दू विधवा ने संसार के दुःख का भार अपने सिर पर ले लिया है। उसने दुःख को सुख बना डाला है, धर्म बना डाला है।'

क्या कभी उन्होंने सोचा, कि इस दुःख को सहन करना धर्म है या अधर्म? क्या कभी उन्होंने सोचा, कि जिस वैधव्य को हिन्दू धर्म का शृंगार कहा जाता है, उसकी वेदना कितनी मर्मान्तक है।

लेकिन मैं किधर बहक गई! अब तो नारी विधवा होती ही

नहीं। और तुम्हारे रहते मेरे विधवा होने का तो प्रश्न ही नहीं है, इसीलिए तो हर करवा चौथ को शीशे के सामने बैठकर मांग में सिन्दूर भरती हूं, एकादशी का व्रत करती हूं। मांग में सिन्दूर, ललाट पर कुमकुम, हाथों में चूड़ियां, हथेलियों पर मेहंदी और साड़ी पर गोटा, यह सब मैं न करूं तो पापिन कहलाऊंगी। मैं तो सुहाग से मुग्धा हूं। लेकिन मेरे दिल में धधकती हुई अग्नि का जो कुण्ड है उसको शान्त करने का जिसे अधिकार है, वह इस अधिकार को स्वीकार न करे तो फिर मैं क्या करूं? भोजन सामने न हो तो भूखे रहना कठिन नहीं होता, लेकिन जब नाना प्रकार के व्यंजन परोसे हुए सामने रखे हों और खाने वाले को यह आदेश दे दिया जाए, कि वह उन्हें छू भी नहीं सकता, जब कि उसके देखते-देखते कोई और आकर खा जाए, तो उसके लिए क्या व्यवस्था है? यदि वह अपने लिए दूसरी जगह से भोजन जुटा सकता है, तो क्या वह पापी है?

मैं आज तुमसे कुछ नहीं छिपाऊंगी। मैं जीवन से ऊबी नहीं हूं, लेकिन फिर भी अपने पागलपन का सारा कच्चा चिट्ठा लिख देना चाहती हूं। विश्वास रखो, मैं बिल्कुल लज्जा का अनुभव नहीं कर रही हूं, क्योंकि जो कुछ मैंने किया है या करना चाहा है, उसको मैं पाप नहीं मानती।

दीपू का बड़ा भाई एक दिन मेरे पास आया। वह बेहद गंभीर था। वह दीपू की तरह न तो चंचल था और न उसे बातें करने में ही रस आता था। वह टकटकी बांधकर देखता भी नहीं था। अपने में सिमटा हुआ वह सीधा-सादा खेत-खलिहान का आदमी है। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कि वह मेरे पास आया, तो बुरी तरह से कांप रहा था। बहुत देर तक वह मुझसे कुछ न कह सका। मैंने ही उससे कहा, "तुम अब शादी कर लो।"

वह एकाएक बोला, "शादी कर लूं?"

मैंने कहा, "हां, वह तो करनी ही होगी। तुम्हारे जैसे काम-काजी आदमी का उसके बिना नहीं चलेगा।"

पहली बार उसने दृष्टि उठाकर मेरी ओर देखा। उस दृष्टि में न जाने क्या था, मेरे हाथ-पांव सुन्न पड़ने लगे। वह ठण्डी दृष्टि जैसे मेरे रोम-रोम में बिंध गई हो। उसने अटकते हुए कहा, "शादी तो ठीक है, लेकिन इन बच्चों का क्या होगा?"

मैंने एकाएक उत्तर दिया, "बच्चे अपनी नई मां के पास रहेंगे। कोई ऐसी-वैसी बात हुई तो मैं हूं ही।"

वह बोला, "यही तो मैं कहता हूं कि जब तुम हो तब फिर और कोई क्यों आए?"

अगर आकाश टूटकर गिर पड़ता तो मुझे इतना आश्चर्य न होता। इतने दिन से जो कुछ सोच रही थी, आखिर वही हुआ। सोच क्या रही थी, मैं स्वयं यही चाहती थी कि वह मुझसे प्रस्ताव करे। लेकिन जब उसने मुझसे यह प्रस्ताव किया, तो मैं आंखें फाड़े देखती रह गई और अपने को जैसे प्रताड़ना देती हुई बोली, "यह तुम क्या कहते हो? यह तुम कैसे कह सकते हो? नहीं, यह नहीं हो सकता। त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। मैं सधवा हूं। मेरा पति जीवित है। तुम्हें यह साहस कैसे हुआ कि तुम मुझसे ऐसा प्रस्ताव करो।"···

मैं बोलती चली जा रही थी। अग्निशिखा की तरह मेरे अन्दर से शब्दों का बवण्डर बिखरता चला आ रहा था और वह कांप रहा था। फिर एकाएक वह वहां से चला गया और मैं दौड़ती हुई अपनी कोठरी में बर्फ जैसे ठण्डे फर्श पर जा पड़ी, और फफक-फफक कर रोने लगी। न जाने कब तक रोती रही।···

लेकिन नहीं, मैं तुमको उन क्षणों की और उसके बाद के भयानक क्षणों के बारे में कुछ नहीं बताना चाहती। मैं तुमको

बेहद प्यार करती हूं। मानती हूं, मेरे जीवन में वे क्षण बहुत बार आए हैं जब मैंने तुमसे बेहद घृणा की है, लेकिन जैसे ही वह घृणा चरम सीमा पर पहुंची, वैसे ही मैंने पाया कि जिसे मैं अब तक चरम घृणा समझ रही थी वही तो चरम प्यार था। प्रेम जितना पवित्र और अगाध होता है, घृणा भी उतनी ही निस्सीम होती है।

दीपू का भाई उसके बाद भी कई बार मेरे पास आया और उसने हर बार उस प्रस्ताव को दोहराया। लेकिन मैं अडिग रही। सब कुछ सहकर भी, उसके स्पर्श को अंगीकार करके भी, मैं अडिग रही। मैंने उसे आश्वासन भी दिया कि मैं उसके बच्चों की देखरेख करती रहूंगी। लेकिन उसकी विवाहिता नहीं बन सकूंगी। तन के भोक्ता बहुत हो सकते हैं, पर मन का मीत एक ही होता है···

मोह का एक और बन्धन टूट गया, मोह का एक और बन्धन जुड़ गया। अब मैं जैसे उन दोनों बच्चों में डूब गई। मानो नारी बिना पीड़ा के ही मातृत्व को पा गई हो।

अभी मैंने अपने जीवन की पूरी बातें नहीं बताई हैं। सच तो यह है कि जीवन का यह लम्बा क्रम मुझे स्वयं भी याद नहीं रहा। न जाने क्यों, जिस दिन की बात अब मैं लिखने चली हूं उस दिन मेरा मन सचमुच आकुल हो उठा था। उस काल के चिरस्मरणीय क्षण बहुत सुखदायी थे। इसी कारण बहुत दुःखदायी भी थे। उस वातावरण में, जिसको मैं अपने रोम-रोम में बसा लेना चाहती थी, और जो मेरे लिए दहकती हुई ज्वाला की तरह असहनीय भी था, उस कोठरी में बैठकर मैं अक्सर उन बच्चों में खो जाती थी। लेकिन मैं सच कहती हूं, तुम विश्वास करना, कि जब मैं उस स्वप्न से जगती

थी तो पाती थी कि मैं उन बच्चों में नहीं बल्कि तुममें डूबी हुई हूं। लेकिन तुम तो मुझे पहचानते तक नहीं थे। और उसी 'तुम' पर मेरा जीवन कितना निर्भर था! सच, तब क्या तुम मुझको जानते थे? क्या तुम मेरी खोज-खबर लेने आए थे?

मुझे ऐसा लगता है कि तुम आए थे। जब तुम साधु हुए थे तब मैं कल्पना कर सकती हूं कि तुम कितने सुन्दर लगते होगे। तुम्हारे मुख की दीप्ति, तुम्हारे शरीर का तेज, तुम्हारे नयनों की ज्योति, सब जैसे मेरे मन पर अंकित हैं। सच कहती हूं, तब हर आने वाले साधु को मैं बड़े ध्यान से देखती थी, विशेषकर युवा साधुओं को। उनको मैं अनायास ही 'तुम' मान लेती थी। एक दिन मेरी वह देवरानी मेरे पास आई। बोली, "जीजी, जीजी, ज़रा बाहर तो आओ।"

उसका मुझे इस प्रकार पुकारना बड़ा अस्वाभाविक-सा लगा। लेकिन वह अन्दर चली आई और मुझे हाथ से पकड़कर खींचती हुई पड़ोस के दरवाज़े पर ले गई। फिर बोली, "देखो वहां, अलख जगाता हुआ एक नौजवान साधु खड़ा है। उसे गौर से देखो तो।"

मैंने उसी दिशा में यन्त्रवत् दृष्टि उठाकर देखा। वह युवा साधु गौरवर्ण, उन्नतललाट, आजानबाहु, सुडौल शरीर और भभूत के नीचे से चमकता हुआ दीप्तमुख! मेरा हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। मैं सोचने लगी कि यह कौन है? एकाएक मुझे तुम्हारा ध्यान आया। और ध्यान आया उस कच्चे बन्धन का जिसने हमें बांध रखा था। मैं उलझन में पड़ गई और एकटक उसे देखती ही रही।...

कैसे बताऊं, तब कैसा लगा था! मेरी वह देवरानी, बराबर मेरे कन्धे पर हाथ रखकर खड़ी रही। वह भी जैसे चकित रह गई हो। कई क्षण बाद उसीने कहा, "पहचान सकती हो क्या?"

एकाएक गर्दन उठाकर मैंने उसकी ओर देखा। फिर उसे धक्का देकर अपनी कोठरी में भागी चली आई, और वहां बैठकर दोनों हाथों में मुंह छिपाकर बड़े ज़ोर से हांफने लगी। न जाने कब तक हांफती रही कि एकाएक एक मधुर स्वर जैसे मेरे रोम-रोम को चेतनता प्रदान करता हुआ गूंज उठा, "अलख माई, साधु को भिक्षा मिले।"

मैं बहुत देर तक जड़ बनी वहीं बैठी रही। उस समय मुझपर क्या बीत रही थी, यह नहीं बता सकती। मैं उठना नहीं चाहती थी। पर वह बार-बार अलख जगा रहा था। तब किस प्रकार एक असहाय व्यक्ति की तरह मैं उठी! किस प्रकार थाली में आटा भरा, भरती रही, तब तक भरती रही जब तक वह आटा कच्चे फर्श पर बिखरने नहीं लगा! और फिर तेज़ी से आगे बढ़कर वह सारा आटा मैंने उस साधु की झोली में पलट दिया। मानो अपना सर्वस्व उसके चरणों में उंडेल दिया हो। आश्चर्यचकित वह सुन्दर साधु मेरी ओर देखने लगा। पुरइन के पत्ते की तरह तब मैं बुरी तरह कांप रही थी। पैर जैसे जम गए थे, लेकिन दृष्टि कहीं उलझ गई थी। दोनों हाथों में थाली लिए मैं न जाने कबतक वहां खड़ी रही। झोली खोले वह भी प्रतीक्षा ही करता रहा।

उन कुछ क्षणों की कहानी तुम भी नहीं लिख सकोगे। उसके बाद के वे दिन, जब वह साधु प्रतिदिन अलख जगाने आता और प्रतिदिन मैं उसकी झोली में अपना सर्वस्व डाल देती···! कई दिन तक यह मौन व्यापार चलता रहा। एक दिन साहस करके उसने मुझसे पूछा, "क्या चाहती हो?"

मेरे अन्तर में जैसे कोई बोल उठा, 'समूचे तुमको चाहती हूं। मैं तुम्हारी ही तो हूं। तुम मुझे चीन्हते क्यों नहीं?' लेकिन प्रकाश में केवल इतना ही कहा, "आपका आशीर्वाद चाहती हूं।"

उसने कहा, "तुम्हें क्या दुःख है ?"

मैं बोली, "दुःख !" और फिर ठहाका मारकर हंस पड़ी, "दुःख क्या होता है यह मैं नहीं जानती।"

असल में दुःख को मैं इतना जानती थी कि मेरे लिए वह बताने की चीज़ ही नहीं रह गई थी। मैंने साधु से पूछा, "स्वामीजी, आपने इस अल्हड़ उम्र में संन्यास क्यों लिया ?"

स्वामीजी बोले, "यह बात तुम क्यों जानना चाहती हो ?"

मैंने कहा, "तुम्हारे मां-बाप नहीं हैं ?"

स्वामीजी बोले, "नहीं।"

मैंने एकाएक कहा, "कोई और है ?"

कहकर मैं कांप उठी। परन्तु स्वामीजी उसी सहज भाव से बोले, "बहुत हैं, लेकिन अब मेरा किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम किसके बारे में जानना चाहती हो ?"

मैं साहस से भरती आ रही थी। कांप भी रही थी, और पूछ भी रही थी। बोली, "मैं उसके बारे में जानना चाहती हूं जो सृष्टि का आधार है।"

स्वामी सहसा सहम उठे। एक छाया-सी उनके मुख पर आकर ठहर गई। कहा, "तुम यह सब कैसे जानती हो ? तुम इस घर में अकेली क्यों रहती हो ?"

अब मेरे लिए जानने को कुछ शेष नहीं रहा था। उस समय आसपास कोई नहीं था। ठिठुरी हुई पसली और सुन्न पड़े हुए अंगों को लेकर मैं साधु के चरणों में गिर पड़ी, "अब तुम नहीं जा सकते।"

न जाने मैं कब तक वहां पड़ी रही, कब उठी और जब उठी तो उस समय वह साधु वहां नहीं था। वह फिर आया भी नहीं। मेरी क्या दशा हुई ! हाथ में आए हुए को मैंने जैसे फिर खो दिया। मैं हाहाकार कर उठी। वह उन्माद कई दिन तक जैसे मेरे प्राणों को

झिंझोड़ता रहा। मैंनेतुम्हें खो दिया। सच, क्या तुम मुझे देखने आए थे? तुम्हारा वह रूप जो मेरे मन में एक युग तक समाया रहा, बहुत दिनों तक पास-पड़ोस की चर्चा बना रहा। लेकिन ज़ालिम, वह सुख भी तुमसे नहीं देखा गया! कई महीने बाद भोर की एक वेला में किसीने मेरा दरवाज़ा खटखटाया। काश वह क्षण न आया होता! मैं उठी, द्वार खोला। देखती हूं कि सजीला जवान धोती-कुर्ता पहने मेरे सामने खड़ा है। मैं उसे देखती रही। कुछ पूछ न सकी। वह मुस्कराकर बोला, "मुझे पहचानती हो?"

मैंने गरदन हिलाकर कहा, "नहीं तो।"

वह बोला, "इतनी जल्दी भूल गई। तुमने ही तो मुझे जीवन दिया है।"

मैं और भी चकित, ठगी, हतप्रभ! आंखें फाड़े उसे देखती रही। सोचती रही, मैं किसे जीवन दे सकती हूं! मैं अज्ञानी, अंधी, मैं क्या जानूं इन बातों को! लेकिन उसके चेहरे पर एक गहरा सुख और अपूर्व सन्तोष था। उसने दृढ़ स्वर में धीरे-धीरे कहा, "मैं वही साधु हूं जिसकी झोली में तुमने थाली भर आटा उलट दिया था, और जिसकी ओर तुम एकटक देखा करती थीं; जिससे तुमने पूछा था कि तुम्हारे कोई और है, वही और जो संसार का आधार है।"

मैं सच कहती हूं, यह सुनते ही मैंने पास की दीवार को बड़े ज़ोर से पकड़ लिया था। मैंने हकलाते हुए कहा, "तुम, तुम वही हो!"

उसने उत्तर दिया, "हां, मैं वही हूं। और मैंने उसको पा लिया है जिसकी ओर तुम्हारा इशारा था।"

मैं फुसफुसाई, "पा लिया! सच!"

उसने कहा, "हां, तुम्हें देखकर मैं उसके दर्द का अनुभव कर पाया। अज्ञान में पड़कर मैं उसे छोड़ आया था। वह अबोध बालिका

अब मेरे जीवन का सर्वस्व है।"

और यह कहते हुए कल के उस साधु ने मेरे चरण पकड़ लिए। न जाने क्या हुआ, मैं तनकर खड़ी हो गई। कमज़ोरी भी कभी-कभी किसीको सशक्त बना देती है। मैंने हंसकर कहा, "यह तो बहुत अच्छा हुआ। प्रभु तुम दोनों को सुखी रखे। कभी उसे लेकर आना।"

उसने आंखों में आंसू भरकर उत्तर दिया, "आऊंगा, मां!"

वह कब गया, कब दरवाज़ा बन्द हुआ, मुझे नहीं मालूम।

यह पुरानी घटना मैंने इसलिए लिखी कि उसके बाद मुझे साधुओं से लगाव-सा हो गया था और मैं हर आने वाले साधु को आंखें फाड़कर देखा करती थी। यहां तक कि एक साधु ने मेरी इस अवस्था का लाभ उठाकर मुझे अपने दल में मिलाने की घनघोर कोशिश की। घण्टों वह मुझे उपदेश देता, संसार की निस्सारता और माया का रहस्य समझाता। नये जीवन के ताने-बाने बुनता। मैं बड़ी उत्सुकता से सब कुछ सुनती। कभी-कभी ऐसा लगता कि जैसे मैं उसकी ओर खिचती चली जा रही हूं···।

वे जनवरी के दिन थे। शीत अपने यौवन पर था। चारों ओर ठिठुरन और सीलन छाई हुई थी और मैं जैसे उस सबसे मुक्त होना चाहती थी। मैंने सोचा, रह-रहकर मेरा मन अकुलाने लगता है, तब क्यों न छोड़-छाड़कर चली जाऊं और खाली हो जाऊं? यहां भी मेरा यह निस्सार जीवन मुझे क्या सुख देगा?

मैं तब उस घर के हर द्वार पर गई, हर चौखट को मैंने छुआ, हर दीवार को मैंने महसूस किया। उस डरावनी रात को मैंने तुम-से बहुत बातें कीं, क्योंकि मैं तुम्हारे सिवाय किसी दूसरे के बारे में कुछ सोच ही नहीं सकती थी। उस रात मेरी छाती में बेहद दर्द उठ रहा था। मैं सोना नहीं चाहती थी। खुले दरवाज़े से बर्फीली हवा के ठण्डे झोंके मेरे अंग-अंग को सुन्न करते हुए बाण की तरह

बींध रहे थे। मैं जाली बन्द करना नहीं चाहती थी, क्योंकि मुझे नींद आने का डर था। और तब मैं किसी निश्चय पर नहीं पहुंच सकती थी।

और मैं निश्चय पर पहुंचना चाहती थी, क्योंकि वह बहुत सवेरे पांच बजे आने वाला था। जनवरी की भोर के पांच बजे जितना गहरा सन्नाटा होता है उतना किसी क्षण नहीं होता। शायद पांच बजने वाले थे। किसीके पैरों की आहट मेरे कानों में पड़ी। मैं तब दीवार के सहारे खड़ी थी। मैंने जैसे झपटकर उसे पकड़ लिया और चीखकर कहा, "कौन है ?"

पैरों की आहट मेरे पास आती जा रही थी, और हर आहट के साथ मैं पागल होती आ रही थी। लालटेन की लौ वहीं कोने में कांप रही थी। मैंने फिर कहा, "कौन है ?"

पदचाप मेरे पास आकर रुक गई। मैंने देखा, वह दीपू था। मैंने अपनी कराह दबा ली। बोली, "तुम !"

दीपू ने कहा, "हां, मैं बाहर जा रहा था। देखा, तुम्हारा दरवाज़ा खुला पड़ा है, अन्दर चला आया। तुम ऐसे क्यों खड़ी हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "कुछ नहीं। पीसने के लिए उठी थी।"

दीपू मेरे राख जैसे मुख की ओर एकटक देखता हुआ बोला, "लेकिन दरवाज़ा खोलने की क्या ज़रूरत थी ? कितना ठण्डा हो रहा है यहां !"

मैं हंस पड़ी, "मुझे तो गर्मी लग रही है।"

"गर्मी ?"

"हां।"

"तुम्हें बुखार तो नहीं हो गया है ?"

मैंने एकाएक यन्त्रवत् अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। मेरा वह बर्फीला हाथ और उसकी वह गर्म पकड़। काश मर्द की वह पकड़

कभी ढीली न होती! मैंने चीखकर कहा, "जाओ दीपू, चले जाओ। किसीके घर में बेवक्त इस तरह नहीं घुसा करते, भले ही दरवाजा खुला हो।"

और उसके बाद मैंने एक प्रकार से ढकेलकर दीपू को बाहर कर दिया। फिर ज़ोर से दरवाज़ा बन्द कर लिया। फिर इतने ज़ोर-ज़ोर से पीसना शुरू किया कि उस दिन का वह आटा किरकिरा हो उठा। मैं नहीं जानती कि वह साधु कब आया, आया या नहीं। आया तो कैसे और कब गया। मैं जब उठी तो जनवरी की प्यारी-प्यारी धूप चारों ओर खिली हुई थी, और पड़ोस की गाय बार-बार रंभा रही थी।

अब मैं बहुत प्रसन्न थी। लेकिन जितनी प्रसन्न थी, उतने ही उलाहने मुझे सुनने पड़े। मैं भूल गई थी कि उस दिन जो आटा मुझे पीसना था, वह एक विशेष अवसर के लिए था। यह ठीक है कि उन्होंने बारीक पीसने के लिए कहा था, लेकिन यह तो नहीं कहा था कि मैं चक्की ही पीस दूं। वह आटा बेकार हो गया। अपराध मेरा था। चुपचाप घर लौटकर मैंने फिर आटा पीसा और उनके घर गई। आश्चर्य में भरकर उस सम्पन्न घर की महिला ने मेरी ओर देखा, "यह कैसा आटा है?"

"सवेरे मेरी गलती से आटा बहुत तेज़ पिस गया था। वह मुझे वापिस दे दो। नया पीस लाई हूं।"

"लेकिन मैंने तुम्हें नया आटा पीसने को नहीं कहा था!"

"कहने की ज़रूरत नहीं थी। मैंने गलती की थी। उसे सुधारना मेरा फर्ज़ था।"

"लेकिन···।"

"लेकिन की कोई बात नहीं मांजी ! आप वह आटा मुझे दे दीजिए।"

"तुम उस आटे का क्या करोगी ? वह तो बेकार हो गया है।"

मैं उन्हें कैसे बताती कि उस आटे का मेरे लिए क्या महत्त्व है ! यह भी तो हो सकता था कि उन्हें वह आटा मिलता ही नहीं। मिलता अपवाद, और मैं उस अपवाद से बच गई थी । इतनी बड़ी बात मैं उन्हें कैसे समझा पाती ! ज़िद करके मैं वह आटा ले आई। चलते समय मांजी ने मुझसे कहा, "तुम बहुत अच्छी हो। मैंने अपने गुरुजी के लिए विशेष रूप से यह आटा पिसवाया था। इसके खराब हो जाने का मुझे बहुत दुःख था। उस दुःख की बात भगवान् ने तुम्हारे मन में पैदा कर दी। तुमने पूर्वजन्म में कोई पुण्य किया होगा, तुम्हें इसका फल मिलेगा। दोपहर को आना, वे तुम्हें आशीर्वाद देंगे।"

यह सुनते ही मैं सुन्न खड़ी रह गई थी। समय के उस छोटे-से भाग में मैंने कितना जीवन जी लिया ! मैं उस साधु के साथ भाग जाना चाहती थी। मैं दीपू के आत्मसमर्पण को स्वीकार कर लेना चाहती थी और अब मेरे लिए स्वर्ग का द्वार खुलने वाला था।

मैं दोपहर को स्वामीजी के दर्शन करने के लिए गई। देखने में वे निहायत कुघड़, कुरूप, पर आंखों से प्रकाश जैसे झर रहा था, जैसे मध्याह्न का सूर्य। उनींदी आंखों से उन्होंने मेरी ओर देखा और पूछा, "वह कौन है ?"

मांजी ने बताया, "यह एक अभागिन है। फेरों के बाद ही इसके पति ने इसे छोड़ दिया है।"

स्वामीजी बोले, "यह तपस्विनी है।"

फिर बहुत देर तक वे मेरी ओर देखते रहे। मैं उस बीच

मूर्तिवत् आंखें धरती पर गड़ाए, एक गहरे अतल में डूबी रही। उसके बाद स्वामीजी ने धीरे से कहा, "तपस्या का मार्ग बड़ा कठिन है। यदि एक क्षण भी तुम्हारे मन में यह विचार आए कि तुम्हारा जीवन व्यर्थ हो रहा है, तो तुम्हें उसे पलट देने का पूरा-पूरा अधिकार है।"

न जाने क्या हुआ, मैंने तेज़ी से गर्दन ऊपर उठाई। स्वामीजी की ओर देखा। वे दहकती हुई आंखें जैसे मेरे अन्तर को छेद गईं। मैं उठकर खड़ी हो गई और फिर एक झटके के साथ मैंने उनके चरण पकड़ लिए। देर तक मैं अपना माथा उनके पैरों पर रगड़ती रही, और वे धीरे-धीरे मेरा सिर सहलाते रहे। बाद में मांजी ने मुझे बताया कि स्वामीजी के नेत्र बन्द हो गए थे और उनसे टपक-कर आंसुओं की दो बूंदें मेरे सिर पर गिर पड़ी थीं। गद्‌गद होकर मांजी बोलीं, "बेटी तुम बड़ी पुण्यवती हो। योगीराज के मन में तुम्हारे लिए करुणा का अजस्र स्रोत बहा है। तुम्हारा कभी अकल्याण नहीं होगा। भगवान् तुम्हारी परीक्षा ले रहे हैं।"

मैंने कातर दृष्टि से मांजी की ओर देखा। भोली-भाली धर्म-भीरु मांजी, वे समझ ही नहीं पाई थीं कि वे स्वामीजी मुझे क्या-क्या दे गए थे। उनकी श्रद्धा मुझमें अब बेहद बढ़ गई। वे मेरे जीवन में रस लेने लगीं।···

तुम यह सब पढ़कर सोचोगे कि क्या होने वाला था और क्या हो गया। लेकिन मुझे तो अभी बहुत कुछ अप्रत्याशित देखना था। मनुष्य को अकेले रहने से अधिक कोई और दुःख नहीं है, अब तक मैं यही बात जानती थी। लेकिन अब मैंने यह अनुभव किया कि भीड़भाड़ में रहने से भी कितना दुःख होता है। बहुत शीघ्र मांजी के घर शहनाई बज उठी। उनके लड़के का विवाह और विवाह में शामिल होने के लिए आई हुई उनकी लड़की, जो एक बहुत सम्पन्न

घर में ब्याही हुई थी, जो सोने से लाल रहती थी, जिसके पांच बेटे थे, लेकिन विधाता ने जिसकी मांग का सिंदूर पोंछ दिया था···।

धूमधाम के साथ विवाह हुआ। मैं भी बुलाई गई और मैं कहूंगी कि मांजी ने परिवार की महिला की तरह मेरा आदर-सत्कार किया, मुझे मान दिया। लेकिन उस दिन जो घटना वहां घटी वह आज भी मेरे मन से नहीं उतरती। वर और वधू द्वार पर आने ही वाले थे। आनन्द और उल्लास उमग रहा था। आरता संजोया जा रहा था। बहनें रास्ता रोकने के लिए तैयारियां कर रही थीं। पांच बच्चों की मां, मांजी की वह बेटी, प्रसन्नमन स्वागत करने के लिए आगे बढ़ी। शोर खिलखिलाहट में उलझकर और भी प्यारा लगने लगा। तभी सहसा मांजी के बड़े बेटे की बहू ने आगे बढ़कर अपनी ननद से कहा, "बीबीजी, आप कहां जा रही हैं?"

लड़की ने सहसा दृष्टि उठाकर एक बार अपनी बड़ी भावज की ओर देखा। निमिष-मात्र में उसका मुंह पीला पड़ गया। वह एकदम उस भीड़ में से तीर की तरह भागी हुई चली गई। हक्की-बक्की मैं उसे देखती रह गई। मैंने पूछा, "क्या बात है?"

बड़ी भावज ने सहज भाव से उत्तर दिया, "वे नई बहू के सामने नहीं आ सकतीं।"

"क्यों?"

वह धीरे से बोली, "बेचारी विधवा जो हो गई हैं।"

मेरा सिर जैसे तेज़ी से घूमने लगा। लेकिन तभी मांजी ने मेरा हाथ पकड़कर खींचा और बोलीं, "पीछे कहां खड़ी है रामो, यहां आगे आ। बहू को आशीर्वाद दे। तू बड़ी पुण्यवती है।"

तुम बहुत बड़े लेखक हो। क्या तुमने कभी कल्पना की है कि मेरी जैसी नारी की तब क्या दशा हुई होगी? दुनिया के सारे सुख पाकर भी वह पुत्रवती विधवा अपने ही घर में इस तरह अप-

मानित की गई और असह्य पीड़ा से पीड़ित, वेदना का साकार रूप मुझ तिरस्कृता का इस प्रकार का स्वागत किया गया ! सुहाग की यह कैसी विडम्बना है।

उसके बाद मैंने सबसे मिलना-जुलना छोड़ दिया। अपनी उस सूनी कोठरी में बन्द रहने लगी। मेले-ठेले, नाच-गीत से जैसे मुझे अरुचि हो गई। ज़रा-ज़रा-सी बात पर मैं क्रोध से उफन पड़ती। सच कहती हूं, उन दिनों मैंने तुमको बहुत कोसा। तुम्हारी पत्नी को कोसा। तुम्हारी सन्तान का बुरा चाहा। अपने कल्पनालोक में मैंने तुम सबकी हत्या कर डाली। और तुम्हें तड़प-तड़पकर मरते देखकर अट्टहास किया।

उन दिनों मैंने दीपू को भी बहुत सख्त-सुस्त कहा और उसके माध्यम से पुरुष-मात्र को कोसा। मैंने उन दोनों छोटे-छोटे बच्चों को भी अपने से दूर करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। लेकिन, फिर भी मैं अपने को मिटा नहीं सकी। मैं पीली पड़ गई, सूख गई, लेकिन मेरे प्राणों ने मुझे धोखा दिया। तुम्हारी लिखी हुई कई पुस्तकें, जो दीपू मेरे लिए खरीद लाया था, उनको मैंने फाड़-फाड़कर जला डाला। हर पन्ने को फाड़ते हुए मैं ऐसा अनुभव करती थी, जैसे मैं तुम्हारे अंगों को चीर रही हूं। और तब मुझे बहुत सुख मिलता था।

लेकिन तभी फिर एक और अप्रत्याशित घटना हो गई। घर से चिट्ठी आई कि दूर के रिश्ते की मेरी एकमात्र चाची चल बसीं। मुझे वहां जाना पड़ा। दीपू मेरे साथ था। गांव की सुहागिन स्त्रियों की तरह मैं चादर ओढ़ती थी। ओढ़ती ही नहीं, बल्कि सिर से पैर तक अपने को उसमें लपेट लेती थी। उसी अवस्था में गाड़ी बदलने के लिए प्लेटफार्म पर बैठी हुई थी। कभी-कभी घूंघट उठाकर आने-जानेवालों को देख लेती थी कि सहसा दीपू ने आकर कहा, "भाभी, भैया !"

मैं कुछ समझ नहीं पाई। कहा, "क्या कहते हो ?"

वह बोला, "भैया हैं।"

"कहां ?"

"वह देखो, यह सामने जो गाड़ी आई है, इसी गाड़ी से कहीं जा रहे हैं।"

अपने को धोखा देती हुई मैं तीर की तरह उठी, और लुढ़कती हुई उसी ओर चली गई जहां मुझे बताया गया था कि तुम खड़े हो। मैंने तुम्हें देखने की चेष्टा नहीं की। मैं तुम्हारे चरणों में जा गिरी। मैंने कसकर तुम्हें पकड़ लिया जैसे मेरे चारों ओर कुहरा छा रहा हो। ठण्डा ठिठुराने वाला कुहरा। जैसे मैं उसमें डूब गई हूं और मेरे चारों ओर धुंधली-धुंधली मूर्तियां उभर रही हों। जैसे मेरे चारों ओर हल्की-हल्की झंकार स्वर्ग-संगीत की तरह गूंज उठी हो। मैंने अनुभव किया कि दीपू ने तुमसे कुछ कहा और तब तुम्हारे मुंह से निकला, "ओह, यह रामो है !"

वह 'रामो' शब्द तुम्हारे मुंह से सुनकर मैं जैसे तृप्ति में डूबती चली गई। कितनी मिठास, कितना माधुर्य, कितनी मादकता··· वह क्षण अमर क्यों नहीं हो गया !

लेकिन यह क्या, मेरी चादर के भीतर से होते हुए यह मैं किसका स्पर्श अनुभव कर रही हूं ? यह किसकी उंगलियां मुझे मादक स्वप्न में डुबो रही हैं ? यह कैसा नया अनुभव, कैसी नई दीप्ति मुझे जकड़ रही है ? यह सब कुछ अमर क्यों नहीं हो जाता ?

उसके बाद, जैसे मैं डूब गई थी। मादकता, सुख-दुःख, पीड़ा-व्यथा सबसे ऊपर होकर मैं एक अनिर्वचनीय चेतना का अनुभव कर रही थी। मेरे उन वस्त्रों से होकर झांक रहा था एक प्रदीप्त चेहरा।

मनुष्य जब अपनी मंज़िल पर पहुंच जाता है, तब उसे जितना

सुख मिलता है, उतना ही दुःख भी होता है, क्योंकि समाप्ति एक दुःख ही तो है। दुनिया जिस भटकने को पीड़ा मानती है, तो क्या उस पीड़ा का अन्त आ पहुंचा है! ...

सहसा दीपू ने मुझे झकझोरकर कहा, "भाभी, भाभी, गाड़ी चली गई।"

मैंने कुछ नहीं सुना। दीपू ने फिर कहा, "भाभी, हमारी गाड़ी आ गई, चलो।"

मैं हकबकाकर बोल उठी, "क्या कहा, क्या हुआ?"

और फिर जैसे मेरी आंखें खुलीं, जैसे एक स्वप्न था जो समाप्त हो चुका था। जैसे मैं थककर अचेत सोई हुई थी। किसीने मुझे झकझोर दिया। धीरे-धीरे सब कुछ स्पष्ट हो गया। मेरे हाथ में नोटों का एक बण्डल था। मेरी झोली में रुपये पड़े थे, खरीज़ भी थी।

दीपू ने कहा, "भाभी, भैया को न जाने क्या हुआ, तुम्हें देखकर उनकी आंखों में आंसू आ गए और तब उन्होंने अपनी जेबें टटोलनी शुरू की। नोट, रुपये, खरीज़ जो कुछ था, वह सब तुम्हारी झोली में डाल दिया।"

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया, पाया कि मैं रो रही थी और मेरे मन में उठ रहा था कि मैं उसी क्षण मर जाऊं। एकाएक मैं लपकी भी, जैसे ट्रेन के सामने कूदने की इच्छा हो, लेकिन दीपू ने मुझे बड़े आराम से संभाला और गाड़ी में चढ़ा दिया।

मैंने वे सब रुपये-पैसे उसको थमा दिए। मैं समझ नहीं पा रही थी कि तुमने मेरा अपमान किया था या सचमुच ही तुमको मुझपर दया आई थी। लेकिन क्या उस स्थिति में दया और अपमान दोनों का एक ही अर्थ नहीं था? पत्नी क्या पति से पैसे की ही आशा करती है? विवाह क्या इसीलिए होता है? मैं तुम्हींसे इसका उत्तर पूछती हूं, तुमने यह सब क्यों किया? तुम्हारे लिए नारी का मूल्य

मूल्य क्या केवल इतना ही है ?

इस घटना ने मेरे जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन कर दिया। मैं सच कहती हूं कि मुझे बहुत बड़ा सुख मिला। कैसे भी हो, मेरे लिए तुम्हारे मन में एक सहानुभूति है। यह सहानुभूति कभी प्रेम में भी बदल सकती है। क्या तुम मुझसे प्रेम कर सकते हो ? हो सकता है कि तुम जो कुछ भी चाहते हो, उसकी आशा तुम्हें मुझसे न हो, लेकिन, तुम मुझसे घृणा नहीं करते, कर भी नहीं सकते। तुम्हारे स्पर्श से मेरी इन्द्रियां जाग्रत् हो उठी थीं। मेरा प्रेम एक नवयुवती की भांति मचलने लगा था। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि तुम्हारे अतिरिक्त किसी और को चाहने की कल्पना भी मेरे लिए एकदम अकल्पनीय थी। मेरी हमजोलियां मेरे साथ चुहल करने लगीं। वे मुझे शरमीली समझती थीं। एक ने कहा, "देर से ही सही तेरा भाग्य चमकने वाला है। देखती रह, दो-चार दिन में वे तुझे बुला लेंगे।

दूसरी ने शंका प्रकट की, "लेकिन वह जो उनके घर में पहले से मौजूद है, उसका क्या होगा ?"

पहली ने उत्तर दिया, "अरी मर्द का क्या है, वह तो बिना विवाह के भी कई स्त्रियां रख सकता है। इस बेचारी को क्या चाहिए, वे इसे अपने पास रखें यही बहुत है।"

तीसरी बोली, "कितने बड़े आदमी हैं, दुनिया इतना मानती है, वे भला इसके साथ बुरा बर्ताव कैसे करेंगे ! ऐसा लगता है कि घर से भाग जाने की शरम के कारण वे इधर नहीं आ सके।"

एक बोली, "तब तो अगर यह ज़बरदस्ती उनके पास जाती तो अच्छा रहता।"

न जाने क्या हुआ, मैं एकाएक चिल्ला उठी, "मैं क्यों जाती ?"

सब खिलखिला पड़ीं, "लो हमारी शरमीली गुड़िया भी कितनी

मानिनी है !"

दूसरी ने कहा, "मानिनी है तभी तो पिया के मन में अभी तक बसी हुई है।"

दीपू ने भी बार-बार यही विश्वास दिलाया, "भाभी, तुम निश्चय जानो, भैया तुम्हें ज़रूर बुलाने वाले हैं।"

तीन साल तक मैं इसी स्वप्न में उलझी रही। हर क्षण, हर आहट, मेरे लिए यही सन्देश लाती रही कि तुम आ रहे हो। पर तुम नहीं आए। मेरे जीवन में तुमने जो प्राणों का संचार कर दिया था, दूरी भी इतनी कम हो गई थी कि जैसे तुम्हारे और मेरे मन के बीच में एक खिड़की खुल गई हो, और उस खिड़की में से होकर तुम आने वाले हो। लेकिन, तुम आए नहीं। आया एक समाचार, तुमने अपनी पत्नी को छोड़ दिया।

छोड़ दिया, मैं अपनी तरफ से कह रही हूं। तब तो मैंने यही सुना था, तुम दोनों रज़ामन्दी से अलग हो गए हो। दीपू ने उस दिन आकर मुझसे कहा, "भाभी, तुम निराश हो रही थीं। लो तुम्हारे लिए एक खुशखबरी लाया हूं।"

मैंने दृष्टि उठाकर देखा, कहा, "मौत को लाए हो ?"

वह हंस पड़ा, और बिना कुछ कहे अखबार उसने मेरी आंखों के सामने कर दिया। न चाहने पर भी मैं उसको पढ़ती चली गई, "प्रसिद्ध साहित्यकार श्री अमीयकुमार दास और उनकी पत्नी यशोदादेवी दोनों स्वेच्छापूर्वक एक-दूसरे से अलग हो गए हैं। कारण यह बताया गया है कि दोनों के विचार नहीं मिलते थे। श्री दास उग्र समाजवादी हैं और उनकी पत्नी का झुकाव कुछ-कुछ गांधीवाद की ओर था। बताया गया है कि विदा के समय उनकी आंखों में आंसू थे। नगर में इस विच्छेद की बड़ी चर्चा है। साधारणतया लोग उनके साहस की प्रशंसा करते हैं। यह भी सुना गया है

कि मिस्टर दास का इससे पहले भी एक विवाह हुआ था। जब वे बच्चे थे तभी उनके अभिभावकों ने उनका यह विवाह कर दिया था। वह स्त्री जीती है या नहीं, इसका किसीको कुछ पता नहीं।"

मैं समझ न सकी कि मैं हंसूं या रोऊं, मेरी उलझन सुलझ रही है या और उलझ रही है। एक क्षण मुझे ऐसा लगा कि जैसे मैं एक बार तुमसे मिल लूं। एक बार तुमसे पूछ तो लूं कि आखिर तुम चाहते क्या हो। तुम्हें जैसी पत्नी की आवश्यकता है, क्या मैं वैसी बन नहीं सकती? लेकिन, इतने वर्ष बाद अब इस विचार का क्या मूल्य? दीपू ने कहा, "देर लगती है भाभी, लेकिन सब ठीक हो जाता है।"

मैंने पूछा, "सच दीपू, क्या तुम समझते हो कि यह दशा ठीक होने की है?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। मैं फिर बोली, "बताओ ना!"

उसने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। मैंने फिर पूछा, "तुम चुप क्यों हो? जवाब दो तुम भी तो मर्द हो। तुम्हारी भी तो शादी हो चुकी है।"

दीपू ने धीरे से कहा, "कुछ कह नहीं सकता भाभी, हो सकता है कि उन्हें अब तुम्हारा ख्याल आए और वे तुम्हें बुला लें।"

मैंने कहा, "मैं उनसे मिलना चाहती हूं। मैं चाहती हूं कि इतने सालों की प्रतीक्षा के बाद, वे मुझे परख-परख तो लें। यदि मैं उनके योग्य नहीं हूं तो मैं फिर यहीं लौट आऊंगी।"

दीपू बोला, "ठीक कहती हो। हम वहां चलेंगे।"

उसके पांच दिन बाद ही करवा चौथ आने वाली थी। उन पांच दिनों में मैंने तुम्हारा कितना ध्यान किया! तुम कैसे लिखते होगे। कैसे तुम्हें रह-रहकर ध्यान आता होगा। कैसे तुम्हारे खाने-पीने का प्रबन्ध होता होगा। यह सब कुछ तो मैं कर ही सकती

थी। मैं नादान नहीं हूं। जानती हूं कि मैं तुम जैसे महान् व्यक्ति के योग्य नहीं हूं, पर तुम्हारी दासी बनने का सौभाग्य तो मुझे मिल ही सकता था। तुम्हारे स्पर्श की अधिकारिणी तो मैं हो सकती थी…

मैं तुम्हें कैसे समझाऊं कि नारी की परिणति कहां है। किसी दार्शनिक ने कहा है, "नारी एक पहेली है और शिशु उस पहेली का हल है।" उसी हल को पाने के लिए मैं कितनी मचली, कितनी तड़पी, कितनी रोई! लेकिन उन पांच दिनों में जैसे सब धुंधलापन मिट गया हो। जैसे मुझे विश्वास हो गया कि अब रात का अन्त आ पहुंचा है। रात का जो अन्त है, वहीं से प्रभात आरम्भ होता है। करवा चौथ के दिन मैं कितनी खुश थी! दर्पण में अपना मुख मुझे स्वयं अनचीन्हा-सा लगा। पानी से भरे बादल की तरह मेरा सांवला रंग जैसे चमक उठा हो। मैंने कितने प्यार से अपना रूप संवारा, अपनी मांग में जैसे सिन्दूर उंडेल लिया! कितनी गहरी घनी थी वह सिन्दूर-रेखा, जैसे तह पर तह जमती चली जा रही हो! मैंने बड़ी श्रद्धा से सात भाइयों की कहानी सुनी, बड़ी श्रद्धा से सारी रात बैठी जागती रही जैसे शिव-पार्वती मेरे कानों में फुसफुसा गए हों, तुम्हारा सौभाग्य तुम्हारे पास है। तुम अखण्ड सौभाग्यवती हो।'

मैंने दीपू को बुलाकर कहा, "कब चलोगे?"

उसने मुस्कराकर मेरी ओर देखा, "जल्दी ही चलेंगे, लेकिन…"

मैं बोली, "लेकिन क्या?"

"ऐसे ही, सोचता था कि इन दिनों वे बहुत दुःखी हैं। अच्छा हो, दो-चार दिन और रुक जाएं।"

मेरे हृदय में एक हूक-सी उठी। काश, मैं दीपू की बात की चिन्ता किए बिना ही उसी वक्त चल पड़ती! लेकिन इसी साहस की सदा मुझमें कमी रही है। मैंने धीरे से कहा, "तुम ठीक कहते हो, एक-दो सप्ताह रुक जाने में कोई हर्ज नहीं है।"

एक हफ्ता बीत गया, दूसरा भी बीत गया। और उसीके साथ बीत गया वह अवसर जो मेरे जीवन में प्रभात की सूचना लेकर आने वाला था, लेकिन सांझ की सूचना देकर चला गया।

क्या तुम जानते हो, कि उस दिन स्टेशन पर जो कुछ तुम मुझे दे गए थे, उसका मैंने क्या किया? मुझे स्वयं वह आज सब अटपटा-सा लगता है। एकदम बचपन की सी बात है। पर क्या यह सच नहीं है कि मैं अभी तक वही अल्हड़-नादान बच्ची हूं, जिसको स्वीकार करके तुम छोड़ गए थे? काल की दृष्टि से मैं परिपक्व होती आ रही हूं, लेकिन भावना की दृष्टि से मैं अभी वहीं पर हूं जहां पर वे अनाड़ी होते हैं, जो भावना को पा तो जाते हैं पर जी नहीं पाते और सदा प्राथमिक पाठशाला के अल्हड़ बालकों की तरह लज्जा का अनुभव करते हैं, या नई दुलहन की तरह जिनके चेहरे पर प्यार और सुहाग दमकता रहता है। घर आकर मैंने उन रुपयों में से कुछ का प्रसाद खरीदा और देवता के मन्दिर में जाकर उसको अर्पण कर दिया। घण्टों उसके चरण पकड़कर रोई और हंसी। शेष सब बच्चों और भिखारियों में बांट दिया। जो धन बचा था उसका तावीज़ बनाकर गले में डाल दिया। आज भी वह तावीज़ मेरे गले में पड़ा हुआ है। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कि मेरी वह देवरानी जो मुझसे काफी बेतकल्लुफ हो गई थी, बोली, "जीजी, यह क्या पागलपन है? तुम इस बात को इतना महत्त्व क्यों दे रही हो? तुमको उन्होंने पैसा दिया मैं समझती हूं यह तुम्हारी बेइज़्ज़ती है और तुम हो कि उस बेइज़्ज़ती को इस तरह सहेजकर रख रही हो।"

मैंने आश्चर्य से पूछा, "कैसे?"

वह बोली, "नहीं समझ पाई! पुरुष किस नारी को पैसे देता है?"

मैंने कहा, "पैसे तो वह सभीको देता है।"

वह बरस पड़ी, "तुम तो जीजी जानकर भी अनजान बन रही हो। पुरुष वेश्या को पैसे देता है।"

सुनकर मैं कांपी नहीं, मैं स्वयं इस बात की कल्पना कर चुकी थी, इसलिए उत्तर दिया, "तुम भूलती हो बहन, पुरुष वेश्या को पैसे देता है किसी सौदे के बदले में, लेकिन मुझसे तो उन्होंने ऐसा कोई ओछा सौदा नहीं किया।"

देवरानी कपड़े में मुंह छिपा, विद्रूप से बोली, "तुम नहीं समझ सकतीं। ना, ना, तुम्हें समझाना भी उचित नहीं है। अच्छा!"

लेकिन, वह जो कुछ समझाना चाहती थी वह मैं न समझी हूं, ऐसी बात नहीं है। पर, उसे समझकर होता भी क्या! मेरे इस घोर निराशा-भरे जीवन में आशा की जो एक रेखा चमक उठी थी उसको मैं अपने हाथों से ही मिटाकर तुमपर शक करके अपने जीवन को कड़वा नहीं करना चाहती थी। उस वेदना को मैं पहचानती थी, लेकिन उसके बोझ को मैं अपने मन पर नहीं रखना चाहती थी। तुम मुझे दुतकार सकते थे, क्योंकि मैं तुम्हारे जीवन में कहीं समा नहीं पाती थी। यह ठीक है, मैंने अक्सर अपने मन में कल्पना की थी कि मेरे जीवन में वह क्षण आएगा, जब तुम मुझे अपना समझोगे। वह नहीं आया। लेकिन, क्या यही कम है कि उस दिन तुमने मुझको पहचानने से इन्कार नहीं किया! कर सकते थे, क्या मैं इसको अपना सौभाग्य न समझूं!

लेकिन, यह सब अपनी प्रशंसा करने जैसा ही है। ना, ऐसा करके मैं इस कहानी को लम्बा नहीं करूंगी। मैं केवल इतनी ही बात कहना चाहती हूं कि जब मेरी आशाओं और कल्पनाओं का स्वर पूरी तरह जगमगा उठा था, तभी एक सवेरे दीपू भागता हुआ

आया। वह बुरी तरह हांफ रहा था। उसकी आंखें क्रोध से लाल हो रही थीं। मैंने अचकचाकर पूछा, "क्या हुआ, क्या बात है?"

दीपू ने जैसे चीखकर कहा, "नीच, वह नीच है।"

मैं हतप्रभ-सी बोली, "कौन, कौन है नीच?"

"वही भैया।"

"क्यों, क्या किया उन्होंने?"

"जो एक नीच आदमी कर सकता है। उन्होंने तीसरी शादी जाकर कर ली।"

जैसे वज्राघात हुआ। पूरी शक्ति के साथ मैंने दीवार को पकड़ने की कोशिश की, पर असफल रह जाना पड़ा। मैं वहीं फर्श पर बैठ गई। कब तक बैठी रही, कुछ मालूम नहीं। जब होश आया तो पाया कि दीपू वहां नहीं है। अब सब कुछ समझकर मुझे रोना आ गया। बहुत देर तक रोती रही। सिसक-सिसककर रोती रही। कई दिन तक मेरा वह रोना नहीं रुका। अचरज इस बात का था कि मैं ज़िन्दा कैसे रही। लेकिन जो निर्लज्जा इतने वर्ष तक इस असहनीय वेदना को सहकर भी आशा का परित्याग न कर सकी, वह इस वज्राघात से भी कैसे मर पाती! मर पाती तो आज यह पत्र लिखने की इच्छा ही क्यों होती! घृणा और पीड़ा के उन दिनों में मुझ तिरस्कृता के प्रति जैसे सारी बस्ती का प्रेम उमड़ पड़ा था। मेरी हमजोलियां आ-आकर मेरे पास बैठतीं और तुम्हें कोस-कोसकर मेरे आक्रोश की अग्नि में घी डालने का प्रयत्न करतीं। लेकिन मैं उन्हें कैसे बताती कि मेरे मस्तिष्क में तुम्हारी तस्वीर इतनी गहरी अंकित हो गई थी कि उसको कोई भी धो देने में असमर्थ था! वे जितनी तुम्हारी निन्दा करतीं, मेरे मन में तुम्हारे प्रति उतना ही प्रेम सघन हो उठता, और मैं नये-नये तर्क देकर या 'भगवान् की माया है' कहकर उनको निरुत्तर कर देती। वस्तुतः उनके मन में

शायद मेरे प्रति सहानुभूति इतनी नहीं थी जितनी इस घटना का अन्तिम परिणाम देखने की उत्सुकता।

तुम इतने महान् लेखक हो। तुमने न जाने कितनी कुरूपाओं और चरित्रहीनाओं को अपने प्रेमियों से मिलाया है। क्या तुम मुझे नहीं मिला सकते थे? मिला सकते थे। लेकिन मैं तो किसी योग्य थी ही नहीं। मेरे और तुम्हारे जीवन को बांधने वाला कोई भी सूत्र मेरी दृष्टि में नहीं था। इस सत्य को मैं स्पष्ट रूप से देख चुकी थी कि मेरे और तुम्हारे बीच कहीं कोई समता नहीं है। लेकिन न जाने क्यों, इसके अन्तिम परिणाम को जानने को मैं भी उतनी ही उत्सुक हो उठती थी जितना गांव वाले।

उन्हींमें से एक-दो पुरुषों के मन में मेरे प्रति इस हद तक सहानुभूति उमड़ी कि उन्होंने मुझे अपनी बना लेना चाहा। खुले आम उन्होंने मुझे निमन्त्रण दिया। बड़ी लज्जा की बात है कि एक विवाहिता अपने पति से अपने प्रेमियों की कथा कहे! क्या तुम हंसोगे नहीं? भले ही मैंने उनको मन से स्वीकार न किया हो, लेकिन अंग-स्पर्श तो हुआ ही था। उनकी रस-भरी बातों ने मेरे घावों पर मरहम भी लगाया था। यह दूसरी बात थी कि वे घाव तुम्हारे प्रति मेरे झुकाव को और भी गहरा कर देते थे। एक ने मुझसे कहा था, "क्यों जीवन-रस को इस तरह सुखा रही हो? इसको चखकर देखो।"

मैं उसे कैसे समझाती कि बीस साल तक रस के जिस घड़े को मैं इस तरह सुरक्षित रखती आई हूं, उसका उपयोग करने का साहस अब कहां पाऊंगी! मेरी यह कृपणता दूर नहीं हो सकती। फिर भी मुझे लग रहा था कि रस-भरा वह घड़ा धीरे-धीरे सूखता जा रहा है और मैं तिल-तिल करके गलती जा रही हूं। कोई आशा नहीं है। लेकिन तभी एक अज्ञात स्थान से पुकार उठी, एक और वज्राघात हुआ। मेरे प्राणों में जैसे जीवन का संचार हो आया।

सैलाव जब आता है तो चारों ओर महानाश का दृश्य दिखाई देने लगता है। लेकिन वह महानाश ही धरती की मुक्ति वन जाता है। वह उर्वरा हो उठती है।

अचानक दीपू की पत्नी वीमार हुई और तीसरे दिन ही उसकी मुक्ति हो गई। इस आकस्मिक वेदना ने मुझे जैसे जीवन दिया। क्या तुम्हें अव भी यह समझाना होगा कि मैं दीपू को कितना प्रेम करती थी ? वेदना के अंधकार से भरे मेरे जीवन में वही एकमात्र स्नेह का सम्वल था। उसकी इस विपत्ति में मैं अपने को भूल गई और पूरे तीन दिन तक उसकी पत्नी की खाट की पट्टी से लगी हुई वैठी रही। ऐसे अवसरों पर मैं अक्सर यही करती थी। अन्तिम क्षण तक वह पूर्ण स्वस्थ रही। उसने मुस्कराकर मेरी ओर देखा। भगवान् के वरदान की तरह उसकी वह मुस्कान जैसे मेरे रोम-रोम को अमृत से भरने लगी। उसने कहा, "जीजी, अपनी दौलत मैं तुम्हारे चरणों में डाले जाती हूं, संभालकर रखना।"

मैंने उत्तर दिया, "मैं किसीकी दौलत नहीं संभालती। तुम्हारी दौलत तुम्हें मुवारक हो।"

वह और भी आर्द्रता के साथ मुस्कराई, लेकिन वोली नहीं। विना कुछ कहे ही उसने करवट वदली। मैं हड़वड़ाकर उठी और जब तक अपने को संभाल पाती तव तक उस घर में एक वार फिर हाहाकार मच उठा। एक और ज्योति सदा के लिए वुझ गई।···

नहीं। अव उस वात की चर्चा नहीं करूंगी। मेरे लिए इस घटना का महत्त्व केवल इतना ही है कि जो मृत्यु मेरे लिए आनी थी, वह उस खिले हुए फूल को कुचलकर चली गई और मुरझाया हुआ फूल रस की वूंद पाकर फिर अटका रह गया। व्यक्ति के भीतर न जाने क्या-क्या है ! क्या कभी कोई अपनी सव परतों को उधेड़-उधेड़कर देखता है ? मैं आज प्रयत्न कर रही हूं। तभी तो कह सकती

हूं कि आने वाले उन दिनों में, जब मौत की छाया चारों ओर छाई हुई थी, मैं अपने मन में कल्पनाओं का एक नया आल-जाल तैयार कर रही थी। तुम सोचोगे कि मैं कितना बड़ा पाप कर रही थी। लेकिन मैं क्या करती, अभी तेरह दिन भी नहीं बीते होंगे कि बेटियों के बापों ने दीपू पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। यदि उस आक्रमण में किसी अज्ञात अन्धकार के कोने से मेरे तीर भी चल गए, तो उसके लिए मैं अपने को दोषी कैसे ठहराऊं? और आज जब कि सब कुछ समाप्त होने वाला है, तब क्यों न अपने मन के गहरे से गहरे भावों को प्रकट कर दूं? मैं स्पष्ट रूप में स्वीकार करती हूं कि तब मेरे मन में यह इच्छा बलवती होती जा रही थी कि क्या मेरा विवाह दीपू के साथ नहीं हो सकता? दीपू आयु में मुझसे कुछ बड़ा ही है। और जब से मैं यहां आई हूं, मैंने उसके प्यार की ऊष्मा को अनुभव किया है। उसने मुझे पाने की चेष्टा भी की थी। मेरी ओर से इन्कार होने पर ही उसने विवाह किया था। शायद विधि को यह स्वीकार नहीं था कि उसका वह विवाहित जीवन सुखी हो। इसीलिए उसने उसकी परिणीता को उससे छीन लिया था। क्या यह सब इसीलिए नहीं था कि विधाता मेरी सहायता करना चाहता था? तुम सोचकर देखो कि इन सब बातों में क्या एक तार नहीं जुड़ा हुआ था? क्या इनमें कहीं मेरी चरित्रहीनता का आभास तुम्हें मिलता है?...

दिन बीत रहे थे और मैं एक असीम प्रसन्नता से पागल-सी होती जा रही थी। मेरी सांसें रुकने लगी थीं, क्योंकि प्रसन्नता के उस बोझ को संभालना मेरी दुर्बल शक्ति से बाहर था। यह ठीक है कि मेरे चेहरे पर एक चमक आने लगी थी। मेरे शरीर में धीरे-धीरे शक्ति का संचार होने लगा था। लेकिन मैं फिर भी बार-बार सिहर उठती थी। लोग समझते थे कि मैं दीपू के दुःख से दुःखी

होकर ही अपने को संभाल नहीं पा रही हूं। मेरे अन्दर कोई तीव्र वेदना है। ऊपर से उसके दुःख को कम करने के लिए साहस का दिखावा कर रही हूं। वे इस वात को नहीं जानते थे कि मेरा अन्तर एक नये प्रेम से ओतप्रोत है। तव हर चीज़ मुझे मेरे आने वाले सौभाग्य और अतृप्ति की समाप्ति की सूचना दे रही थी।

यह सव एक ही ओर से हो, ऐसा भी नहीं था। ठीक उसी तरह जिस तरह दीपू का वड़ा भाई मेरे पास आया था, दीपू भी मेरे पास आया। मैं उसके आने की राह देख रही थी। उस दिन भी वही शीतकाल का सवेरा था। वही पांच वजे का समय। मैं चक्की चलाने के लिए उठी ही थी कि दरवाज़े पर आहट हुई। मैं घबराई नहीं। तुरन्त दरवाज़ा खोल दिया। जैसे मैं युग-युग से उस आहट की प्रतीक्षा कर रही थी। धीरे-धीरे वह अन्दर आया और उस धुंधली रोशनी में उसने मेरी ओर देखा। वहुत देर तक हम मौन एक-दूसरे को देखते रहे। मैंने ही पूछा, "सैर करने जा रहे हो?"

वह फुसफुसाया, "हां, जा रहा हूं। तुम चलोगी?"

एक ही क्षण में जैसे मेरा सारा साहस वेकार हो गया हो। मैंने कांपकर कहा, "क्या कहते हो?"

वह मुस्कराया, "जो कुछ कहना चाहता हूं, वह तुम जानती ही हो।"

मेरे मुंह से एकाएक कोई शब्द नहीं निकला। परन्तु दूसरे ही क्षण मैंने तीव्र स्वर में कहा, "नहीं-नहीं, मैं कुछ नहीं जानती। तुम चले जाओ।..."

और यह कहते हुए जैसे मैंने उसे धक्का देकर दरवाज़े से वाहर कर दिया। लेकिन वह घवराया नहीं। हंसकर वोला, "जा रहा हूं। केवल इतना ही कहने आया था और आशा है, जल्दी ही इसका उत्तर भी लेने आऊंगा। इतने सवेरे नहीं आऊंगा। भरी दोपहर में

आऊंगा, जिससे हम एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचान लें।…"

लिखती जा रही हूं। न जाने क्यों, यह सब कुछ लिख देने को मन कर आया है। तुम्हें तो यह सब बड़ा विचित्र-सा लगता होगा! कैसी कुबड़ और कुरूप है मेरी भाषा! कभी-कभी मुझे भी यह संसार बड़ा कुरूप दिखाई देता है। मेरी कोठरी के बाहर की दुनिया जैसे घोर अन्धकार में आलिप्त है। लेकिन मेरे दरवाजे के भीतर अजस्र प्रकाश का स्रोत बह चला है। इस कोठरी में, जहां मुझे तुम्हारे साथ सैकड़ों-हजारों रातें काटनी थीं, आज भी मैं कल्पनाओं के संसार में उस स्वप्न को संजोया करती हूं। किसीने लिखा है, "जीवन स्वप्न से सुन्दर है।" होता होगा। मेरे लिए स्वप्न ही सुन्दर है, क्योंकि मैं अनुभव करती हूं कि वहां तुम मेरे साथ रहते हो, मैं तुम्हारे शरीर का स्पर्श नहीं कर पाती, लेकिन तुम्हारे सांसों की ध्वनि तो मुझे पुलकित करती ही रहती है। मुझे भय है कि तुम मुझे पागल समझोगे, तुम्हारे मन में नाना प्रकार के विचार उठेंगे, शायद तुम ग्लानि से भी भर उठो; पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि मैं तुम-पर कोई दोष नहीं लगाना चाहती। मैं तुम्हें अपने मन की कहानी सुना रही हूं।…

बेचारा दीपू! वह भरी दोपहरी में आने की प्रतिज्ञा कर गया था। लेकिन इससे पहले कि दोपहरी आती, एक और अघटित घटना घट गई। हमारे गांव में एक पाठशाला थी। उन दिनों उसे मिडिल स्कूल में परिवर्तित कर दिया गया था। उसमें जो मुख्याध्यापिका नियुक्त हुई थी, वह मेरी ही तरह परित्यक्ता थी। उस समय यह बात कोई नहीं जानता था। उसका एक पुत्र भी था जिसको वह बेहद प्यार करती थी। उसमें और मुझमें कोई समानता नहीं थी। वह जितनी प्रगतिशील थी, मैं उतनी ही पिछड़ी हुई। लेकिन जैसा-कि स्वाभाविक था, बहुत शीघ्र ही मेरे बारे में वह सब कुछ जान गई।

गांव की दुनिया कितनी सीमित होती है !

यह बात तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। आश्चर्यजनक यह है कि मैं उसके बच्चे को बहुत प्यार करने लगी। तुम कहोगे, मेरे लिए बच्चों को प्यार करना स्वाभाविक था। लेकिन मैं कहूंगी, यह ठीक होकर भी ठीक नहीं था। दीपू के बड़े भाई के दोनों बच्चों को मैं निश्चय ही प्यार करती थी, लेकिन यह भी सच है कि उनको देख कर मेरा मन कभी नहीं उमड़ा। उनसे अलग होकर मैं कभी नहीं पिघली। लेकिन मुख्याध्यापिका के इस बच्चे को देखकर, न जाने क्यों, ऐसा लगने लगा था कि जैसे मैंने बहुत कुछ पा लिया है। और जब वह मेरे पास नहीं रहता था, तो लगता था, जैसे मैंने बहुत कुछ खो दिया हो।

उस अध्यापिका के बारे में मैं केवल इतना ही जानती थी कि वह विधवा है और अपने स्वर्गीय पति की स्मृति, इस पुत्र के लिए ही वह जी रही है। लेकिन एक दिन दीपू ने आकर मुझसे कहा, "भाभी, तुमने कुछ सुना ?"

यह दीपू के मुझसे मिलने की प्रतिज्ञा करने के दूसरे दिन की ही बात है। मैंने सहज भाव से उत्तर दिया, "नहीं तो। क्या बात है ?"

"वह जो हैडमास्टरनी है न, यशोदा, उसको स्कूल से निकाल दिया गया है।"

मैं हठात् कांप उठी। एकदम पूछा, "क्यों, क्या बात है ?"

"बात पेचीदा है।"

सहसा मेरे मन में विचारों का एक तुमुल नाद घुमड़ उठा। अवश्य ही वह चरित्रहीन रही होगी। अवश्य ही उसपर यह लांछन लगाया गया होगा। मैंने दीपू की ओर देखकर कहा, "वह नारी है। और नारी पर सबसे बड़ा लांछन यही लगाया जा सकता है कि वह

चरित्रहीन है। अवश्य ही स्कूल के व्यवस्थापकों ने यही किया होगा।"

दीपू ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा और उत्तर दिया, "हां, इससे कुछ मिलती-जुलती ही बात है।"

"तो क्या वह परित्यक्ता है ?"

दीपू हठात् कांप उठा, विस्मित विमूढ़ मेरी अ र देखकर बोला, "तुम कैसे जानती हो ?"

मैं गर्व से हंसी। बोली, "मेरे अन्दर कोई बैठा है, जो सब कुछ बताता रहता है। इन पिछले बीस सालों में उसीने तो मेरी रक्षा की है। यशोदा अगर तुम्हें कहीं मिले तो उससे कह देना कि मेरे घर में उसके लिए बहुत जगह है।"

दीपू जैसे गिर पड़ेगा। दीवार थामकर उसने फिर मेरी ओर देखा, "लेकिन तुम तो···।"

मैं फिर हंसी। बोली, "रहने दो दीपू, इन बातों को रहने दो। मेरे भाग्य में विडम्बना ही लिखी है। अब तुम अपने मन से इस तस्वीर को धो डालो।"

दीपू का मुख सहसा श्वेत हो आया। लगा जैसे वह कुछ कहना चाहता है। लेकिन फिर एक झटके के साथ जैसे अपने को तोड़कर वह बाहर निकला चला गया। एक क्षण तो मैं स्तम्भित बैठी रही। फिर जैसे मेरा मन हाहाकार से भर उठा। एक मर्द को मैंने कैसा कदर्य बना दिया और एक मर्द तुम हो जो मुझपर दया करते हो। पुरुष जब नारी पर दया करता है तब धरती माता की छाती में अग्नि दहक उठती है। मानो वह कहती हो, अहंकारी मानव, आखिर तुझे मेरी गोद में ही विश्राम मिलेगा।

पुरुष नारी की गोद में ही तो विश्राम लेता है।···

लेकिन मैं यह सब क्या अनधिकार चेष्टा करने लगी ! ···तुम्हारे जैसे महान् लेखक को मैं उपदेश दूं ! मैं तो यशोदा की बात कहने

जा रही थी। मैं उसे जितना निर्बल समझती थी वह उतनी ही सबल थी। स्कूल से अलग होकर भी वह उस गांव से नहीं गई। यह अच्छा ही हुआ, उसके बच्चे के प्रति मेरे मन में जो स्नेह उमड़ आया था उसके सूखने का अवसर नहीं आया। वह अपनी मां से अधिक मेरे पास रहता था, और इसीलिए मेरे मन में जीने की लालसा फिर उभर आई थी। वर्षों पहले जो पढ़ाई मैंने छोड़ दी थी वह फिर शुरू हो गई। और यशोदा जिसके लिए जीवन सदा एक प्रश्नवाचक चिह्न था, गांव की लाड़ली बनती जा रही थी। कैसे धीरे-धीरे वह हर घर की सदस्या बन गई, यह कहानी बताना व्यर्थ है। इतना ही कहूंगी, वह मेरे घर की एक सदस्या ही नहीं थी, मेरे मन की स्वामिनी भी बन गई थी। उसीके आग्रह पर तो मैंने पढ़ाई शुरू की थी और उसीके पुत्र के कारण मैं मातृत्व के सुख में डूबती जा रही थी। वह मेरी सारी कहानी सुन चुकी थी। और यह जो कुछ मैं आज लिख रही हूं, यह सब उसीके कारण तो है ही। मेरी अटपटी भाषा को उसीने संवारा, उसीने मेरी कहानी को रूप दिया। मैं तो बस उसीको दुहरा-भर रही हूं।

एक दिन मैंने साहस करके उससे पूछा, "यशोदा बहन, तुमने अपनी कहानी तो बताई ही नहीं।"

वह हंस पड़ी। सहज भाव से उसने कहा, "मैं तुम्हें बता तो चुकी हूं। मेरे एक पति थे जिनसे मैंने प्रेम-विवाह किया था। लेकिन प्रेम का उन्माद जब शान्त हो गया तो मैंने पाया कि हम दोनों दो दिशाओं के व्यक्ति हैं। एक-दूसरे को आकर्षित नहीं करते, खींचते हैं। खिचाव में ही संघर्ष है। रोज़-रोज़ की झिकझिक, मनमुटाव, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा। कई साल तक यह सब चलता रहा। अन्त में एक दिन उन्होंने कहा, 'यशोदा, ऐसे नहीं चल सकता। क्या अब हमें अलग नहीं हो जाना चाहिए?'

चरित्रहीन है। अवश्य ही स्कूल के व्यवस्थापकों ने यही किया होगा।"

दीपू ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा और उत्तर दिया, "हां, इससे कुछ मिलती-जुलती ही बात है।"

"तो क्या वह परित्यक्ता है ?"

दीपू हठात् कांप उठा, विस्मित विमूढ़ मेरी अ र देखकर बोला, "तुम कैसे जानती हो ?"

मैं गर्व से हंसी। बोली, "मेरे अन्दर कोई बैठा है, जो सब कुछ बताता रहता है। इन पिछले बीस सालों में उसीने तो मेरी रक्षा की है। यशोदा अगर तुम्हें कहीं मिले तो उससे कह देना कि मेरे घर में उसके लिए बहुत जगह है।"

दीपू जैसे गिर पड़ेगा। दीवार थामकर उसने फिर मेरी ओर देखा, "लेकिन तुम तो···।"

मैं फिर हंसी। बोली, "रहने दो दीपू, इन बातों को रहने दो। मेरे भाग्य में विडम्बना ही लिखी है। अब तुम अपने मन से इस तस्वीर को धो डालो।"

दीपू का मुख सहसा श्वेत हो आया। लगा जैसे वह कुछ कहना चाहता है। लेकिन फिर एक झटके के साथ जैसे अपने को तोड़कर वह बाहर निकला चला गया। एक क्षण तो मैं स्तम्भित बैठी रही। फिर जैसे मेरा मन हाहाकार से भर उठा। एक मर्द को मैंने कैसा कदर्य बना दिया और एक मर्द तुम हो जो मुझपर दया करते हो। पुरुष जब नारी पर दया करता है तब धरती माता की छाती में अग्नि दहक उठती है। मानो वह कहती हो, अहंकारी मानव, आखिर तुझे मेरी गोद में ही विश्राम मिलेगा।

पुरुष नारी की गोद में ही तो विश्राम लेता है।···

लेकिन मैं यह सब क्या अनधिकार चेष्टा करने लगी ! ···तुम्हारे जैसे महान् लेखक को मैं उपदेश दूं ! मैं तो यशोदा की बात कहने

जा रही थी। मैं उसे जितना निर्बल समझती थी वह उतनी ही सबल थी। स्कूल से अलग होकर भी वह उस गांव से नहीं गई। यह अच्छा ही हुआ, उसके बच्चे के प्रति मेरे मन में जो स्नेह उमड़ आया था उसके सूखने का अवसर नहीं आया। वह अपनी मां से अधिक मेरे पास रहता था, और इसीलिए मेरे मन में जीने की लालसा फिर उभर आई थी। वर्षों पहले जो पढ़ाई मैंने छोड़ दी थी वह फिर शुरू हो गई। और यशोदा जिसके लिए जीवन सदा एक प्रश्नवाचक चिह्न था, गांव की लाड़ली बनती जा रही थी। कैसे धीरे-धीरे वह हर घर की सदस्या बन गई, यह कहानी बताना व्यर्थ है। इतना ही कहूंगी, वह मेरे घर की एक सदस्या ही नहीं थी, मेरे मन की स्वामिनी भी बन गई थी। उसीके आग्रह पर तो मैंने पढ़ाई शुरू की थी और उसीके पुत्र के कारण मैं मातृत्व के सुख में डूबती जा रही थी। वह मेरी सारी कहानी सुन चुकी थी। और यह जो कुछ मैं आज लिख रही हूं, यह सब उसीके कारण तो है ही। मेरी अटपटी भाषा को उसीने संवारा, उसीने मेरी कहानी को रूप दिया। मैं तो बस उसीको दुहरा-भर रही हूं।

एक दिन मैंने साहस करके उससे पूछा, "यशोदा बहन, तुमने अपनी कहानी तो बताई ही नहीं।"

वह हंस पड़ी। सहज भाव से उसने कहा, "मैं तुम्हें बता तो चुकी हूं। मेरे एक पति थे जिनसे मैंने प्रेम-विवाह किया था। लेकिन प्रेम का उन्माद जब शान्त हो गया तो मैंने पाया कि हम दोनों दो दिशाओं के व्यक्ति हैं। एक-दूसरे को आकर्षित नहीं करते, खींचते हैं। खिचाव में ही संघर्ष है। रोज़-रोज़ की झिकझिक, मनमुटाव, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा। कई साल तक यह सब चलता रहा। अन्त में एक दिन उन्होंने कहा, 'यशोदा, ऐसे नहीं चल सकता। क्या अब हमें अलग नहीं हो जाना चाहिए?'

"सच कहती हूं रामो बहन, पहली प्रतिक्रिया मुझपर यही हुई कि मैं उनका गला घोट दूं। और उसके बाद मैंने सोचा, यही मार्ग ठीक है। यही होना चाहिए। हम दोनों जैसे एक हुए थे, वैसे ही अलग क्यों न हो जाएं?'

मैंने कहा, "और तुम दोनों अलग हो गए। लेकिन बात क्या केवल इतनी ही है? स्त्री-पुरुष के बीच में क्या घटना इसी तरह घट जाती है?"

एक क्षण के लिए यशोदा द्विधा में पड़ गई। फिर तीव्र वेग से हंसती हुई बोली, "अब उस सारी बात को क्या बताऊं? फिर तुमसे कहूं भी क्या? अलग होकर मैं चली आई। उन्होंने मुझे बहुत कुछ देना चाहा, लेकिन मैंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। बस एक ही वस्तु मैंने उनसे चाही। चाही क्या, उसपर तो मेरा अधिकार था। मैंने बच्चे को अपने पास रखा।"

मैं आंखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देख रही थी। फिर न जाने क्या हुआ, मैं चीखकर रो पड़ी। उसके बाद मुझे केवल इतना ही याद है कि जब मेरी आंख खुली तो मेरा बदन बुरी तरह टीस रहा था। जैसे मैं किसी स्वप्नलोक से जागी थी। मैंने कराहते हुए पूछा, "मैं कहां हूं?"

यशोदा आंखों में आंसू भरे हुए मेरे ऊपर झुकी हुई थी। मुस्कराकर बोली, "अपने ही घर में हो। मैं यशोदा हूं और यह मनोज। आज से तुम इसकी मां हो।" और फिर उसने मेरा हाथ दबाया, मेरे हृदय को सहलाया और दोनों हाथों में मेरा मुंह लेकर आंखों में झांकती हुई बोली, "मुझसे गलती हो गई। प्रतिज्ञा करती हूं कि आज के बाद हम पिछले जीवन की बातें नहीं करेंगे।"

और उसने अपनी प्रतिज्ञा का पूरी तरह पालन किया। उसने अपने-आपको गांव के जीवन में आत्मसात् कर दिया। यहां तक कि वह अपने बच्चे का भी कोई विशेष ध्यान नहीं रखती थी। उसे इस बात की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि अनायास ही मैं उसके बेटे की मां बन गई थी। एक अनाड़ी की तरह अति उत्साह से मैं उसकी देखभाल करती। वह भी चार वर्ष का शिशु जैसे मुझमें ही अपनी मां को पा गया हो। इसके लिए मुझे महीनों साधना करनी पड़ी थी। मुझे ऐसा लगा था जैसे जिस दुःख के भार को मैं अकेले वहन करती आई हूं, उसको उठाने वाले अब एक से दो हो गए हैं। मन की बात कहती हूं। मनोज के कारण मेरा जीवन मुझे भार नहीं मालूम होता था। कभी-कभी तो यहां तक होता कि मनोज को लेकर मैं उसकी मां से लड़ पड़ती, अधिकार के साथ अपना दावा पेश करती। पास-पड़ोसवालियां दांतों तले अंगुली दबाकर कहतीं, "बेटा तेरा है या उसका ?"

मैं उत्तर देती, "मेरा है। इसमें भी क्या कोई शक है ?"

मुझे ठीक याद है जब उसने पांचवें वर्ष में प्रवेश किया तब उसको स्कूल भेजने के प्रश्न को लेकर काफी झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। यशोदा चाहती थी कि मनोज को शहर के किसी बोर्डिंग में दाखिल कर दिया जाए। लेकिन मैं अडिग थी कि मनोज गांव में ही पढ़ेगा। जानती थी कि शहर में अच्छी पढ़ाई होती है, लेकिन मैं यह कैसे सहन कर सकती थी कि पांच वर्ष का वह बालक इतनी दूर अकेला रहे! मैंने उसे गांव की पाठशाला में भर्ती करा दिया।

यशोदा बोली, "जीजी, तुम गलती कर रही हो। उसके अकेले रहने का डर है तो तुम उसके साथ जाकर रह सकती हो।"

मैं जैसे कांप उठी, "मैं शहर जाकर रहूंगी !"

यशोदा बोली, "हां, इसमें हर्ज ही क्या है ?"

मैंने दीर्घ निश्वास खींचकर कहा, "मैं तुम्हें समझाऊं कि मेरे लिए गांव छोड़ने का क्या अर्थ होता है।"

वह हंस पड़ी, "तो फिर मैं चली जाती हूं।"

मैंने सहसा कहा, "नहीं, मैं मनोज को अपने से अलग करने की कल्पना भी नहीं कर सकती।"

उसने मेरी आंखों में झांका। फिर मुस्करा पड़ी। वह व्यंग्यभरी मुस्कराहट जैसे मेरे कलेजे में बर्छी की तरह चुभती चली गई। वह बोली, "तुम किसीको बांधकर रख सकती हो ?"

जैसे सारा संसार भरभराकर चारोंओर बिखर गया हो। मेरा सिर इतनी तीव्र गति से घूमा, मुझे आश्चर्य है कि मैं यह पत्र लिखने के लिए जीवित कैसे हूं ! वहां से मैं तेज़ी से भागती हुई अपनी कोठरी में पहुंची, किवाड़ों को अच्छी तरह से बन्द कर लिया। फिर उसने उन्हें बार-बार खड़खड़ाया। दीपू ने बार-बार आकर मुझे पुकारा। मनोज के रोने की आवाज़ भी मैंने सुनी। लेकिन मैंने किवाड़ नहीं खोले, नहीं खोले।

दिन बीत गया। रात भी बीत गई। मेरे आंसुओं से कोठरी का वह कच्चा फर्श एक बार फिर भीग गया। लेकिन मेरी वेदना की थाह क्या किसीको मिली ! जब मैंने किवाड़ खोले तो धूप खिल उठी थी और ठण्डी हवा के कारण मेरा सिर कांप रहा था। मैं जो कुछ थी, उसको जानती थी लेकिन उस ज्ञान का आभास जब उसकी ओर से मुझे मिला, तो मेरे लिए जैसे मेरा जीवन दूभर हो गया हो । धीरे-धीरे मैं अपने काम में लग गई। मुझे नहीं मालूम कि वह कब मेरे पास आई। मैंने जब उसे देखा तो वह आंखों में आंसू भरे चुपचाप दालान में बैठी थी। दृष्टि मिलते ही वह बोली, "कल की बात के लिए माफी मांगने आई हूं। अनायास ही मैं कुछ ऐसी बातें कह गई जो मुझे नहीं कहनी चाहिए थीं।"

मैंने मुस्कराकर कहा, "सत्य अनायास ही प्रकट होता है।"

वह व्याकुल होकर बोली, "नहीं, नहीं, मेरा यह मतलब नहीं था। मुझे दुःख है।"

मैं हंस पड़ी. "तुमने तो मुझे चेतावनी ही दी है। अब यह दो दिन की वेदना है, सह लूंगी। कल को जब मैं किसी योग्य न रहती तब यदि यह सत्य प्रकट हुआ होता, तो मेरी क्या दुर्दशा होती इसकी कल्पना करके भी मैं सिहर उठती हूं। मैं तुम्हारा उपकार मानती हूं। तुम शहर चली जाओ।"

वह एक क्षण चुपचाप मेरी ओर देखती रही। फिर बोली, "नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं शहर नहीं जाऊंगी।"

मैंने उसी दृढ़ता से कहा, "अब तो तुम्हें जाना ही होगा मेरे आंसुओं की चिन्ता मत करो। वे सूख चुके हैं। मैं मानती हूं कि मेरी चाह अतृप्त है। लेकिन मैं तुम्हें कैसे बताऊं कि यह अतृप्ति ही मेरे जीवन का सम्बल बनी हुई है। तृप्ति का अर्थ मेरे लिए केवल मृत्यु ही है।"

उसने फिर मुझसे कुछ नहीं कहा। वह वहां से चली गई। इस एक वाक्य ने मेरा सारा जीवन जैसे पलट दिया हो। उस एक रात में ही मैं कितनी बुद्धिमती हो उठी, कितना मैंने सोचा, कितने प्रश्न उठाए, फिर किस प्रकार मैंने उनको हल किया, यह सब मैं तुम्हें कैसे बताऊं? रहने दो इस कहानी को। मनोज और उसकी मां दोनों उस गांव से चले गए। लेकिन जाने से पहले मेरे जीवन में एक और सत्य का उद्घाटन कर गए।

एक दिन मैं बहुत देर तक उस समस्या में उलझी रही। धीरे-धीरे मैंने ऐसा अनुभव किया कि जैसे मैंने उसके प्रति अन्याय किया हो। सन्ध्या होते-होते इस तथ्य ने मुझे जकड़ लिया। मुझे लगने लगा जैसे उससे क्षमा मांगनी चाहिए। इसीलिए अंधेरा हो जाने पर

मैं चुपचाप घर से बाहर निकली और उसके घर पहुंची। रास्ते में मुझे नहीं मालूम कि किसीने मुझे देखा या नहीं, मैं किससे टकराई या किसको ठुकराया, मैं तो अपने में खोई-खोई-सी उसके दरवाज़े पर पहुंचकर ही रुकी। मेरी आंखें भरी हुई थीं। एक क्षण रुककर मैंने अपने को संभालने का प्रयत्न किया। फिर खुले दरवाज़े से होकर अन्दर चली गई। दालान में रखी हुई लालटेन का धीमा प्रकाश, अन्धकार को और भी धुंधला कर रहा था। लेकिन मैंने पाया कि कमरे के किवाड़ जैसे ढुलके हुए हैं। इसलिए बिना कुछ सोचे-समझे आगे बढ़ी चली गई। मैं उसे चकित कर देना चाहती थी। लेकिन जैसे ही मैंने दरवाजे को खोलने का प्रयत्न किया, एक घबराई हुई आवाज़ वहां गूंज उठी, "कौन ?"

और उसके साथ ही जैसे कोई तेज़ी से उठकर खड़ा हो गया हो। मैं एकाएक लज्जा से गड़ गई। मैंने कहा, "मैं हूं।"

किवाड़ खुल चुके थे। झांककर देखा, एक चारपाई पर मनोज सोया पड़ा था और दूसरी चारपाई पर लेटा है दीपू। उससे कुछ दूर कांपती हुई खड़ी है यशोदा। धुंधले प्रकाश में मैं उनके चेहरे के भावों को नहीं पढ़ सकी। पढ़ने की आवश्यकता भी नहीं थी। मैं सब कुछ समझ गई। मेरे मुंह से निकला, "मैं माफी चाहती हूं।"

और इतना कहकर मैं तीर की तरह कांपती हुई अपनी कोठरी में आकर ही रुकी। रास्ते में ठोकर खाकर मेरी अंगुली में चोट आ गई, अपने घर के दरवाज़े पर ही मैंने अपना सिर फोड़ लिया। लेकिन कोठरी में घुसने पर मैं रोई नहीं। फर्श पर लेटी भी नहीं। खाट पर जा बैठी और आंखें फाड़-फाड़कर उस महाशून्य में एक दूसरे महाशून्य की खोज करने लगी। प्रतिक्षण मैं यह अनुभव कर रही थी कि जैसे मेरे हृदय की गति बन्द हो चुकी है। लेकिन कुछ क्षण बाद मैंने पाया कि मैं अपनी खाट पर हूं और किसीने बड़े ज़ोर

से मेरे पैरों को पकड़ रखा है। मैंने अचकचाकर कहा, "कौन है भाई ?"

कोई उत्तर नहीं मिला। मैं जैसे जागी। आंखें फाड़-फाड़कर देखा। वह तो दीपू था। जैसे अग्नि की ज्वाला मुझे झुलसाती हुई निकल गई हो। घृणा के तीव्र आवेग से मैं थरथराई, लेकिन यह सब क्षण के सहस्रवें भाग में ही होकर रह गया। मुझे यह सोचने का क्या अधिकार है कि दीपू ने मेरे साथ विश्वासघात किया है ? वह मेरा कौन था ? मेरे तो तुम ही थे। और तुमको पाने में बार-बार असफल रही हूं। मैंने दीपू से कहा, "तुम क्यों आए हो, यह मैं जानती हूं। लेकिन भाई, तुमने तो जो कुछ किया है, वह ठीक ही किया है। मुझे ज़रा भी रंज नहीं है।"

दीपू ने रोते हुए कहा, "लेकिन भाभी···।"

मैंने कहा, "तुम इस सम्वन्ध में मुझसे कुछ भी मत कहो। तुमने यदि कभी एक क्षण के लिए भी कभी मुझे प्यार किया हो तो उसी प्यार की सौगन्ध दिलाकर मैं तुमसे कहती हूं कि तुम मुझपर अविश्वास मत करो। तुम उससे विवाह कर लो, सुखी रहो। मेरा सुख इसीमें है।"

सच कहती हूं, यह सब जो कुछ मैं कह रही थी सच्चे मन से नहीं कह रही थी। आज जब सब कुछ लिखने को चली हूं तो उस सत्य को झुठलाऊंगी नहीं। दीपू को देखकर मेरे मन में यही उठा था कि मुक्के मार-मारकर उसका सिर फोड़ दूं, उसके दिल को चूर-चूर कर दूं और फिर पूछूं, 'बता अब कैसा लगता है ?' लेकिन आदमी तो अपने को ठगने की विद्या में सिद्धहस्त है। इसी कारण वह जानवर से आदमी बना।

मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि मैंने अपने भावों को रंचमात्र प्रकट नहीं होने दिया और इसका जो परिणाम होना था वही हुआ।

दीपू और यशोदा दोनों उस गांव से चले गए। साथ में मनोज को भी ले गए। वह मनोज जो मेरे आंचल की छाया में और मेरे प्यार की मनुहारों में बड़ा हुआ था, मेरी ओर देखे बिना ही चला गया। कुछ दिन बाद सुना, वह बहुत प्रसन्न है। उसका नया बाप उसे बड़े प्यार से रखता है। उसकी मां फिर एक बड़े स्कूल की अध्यापिका बन गई है। मैंने दोनों हाथ माथे से छुआकर भगवान् से प्रार्थना की, 'प्रभो, मेरे मन को शुद्ध करो। जैसे वे सुखी हैं, सब सुखी हों।'

इस अन्तिम रात में, हां, यह मेरे जीवन की अन्तिम रात ही है, लालटेन की लौ तेजी से कांप रही है और दीवार की दरारों में से आती हुई हवा मेरे शरीर में चुभ रही है। मैं बार-बार अपने से एक सवाल पूछती हूं, कि क्या यह सम्भव नहीं था कि दीपू मेरे साथ विवाह कर लेता; क्योंकि वह मुझे भी इसी तरह प्यार करता था जिस तरह उसने मनोज की मां को किया? यह प्यार क्या है? प्यार क्या किसी एक को ही किया जाता है? या यह मनुष्य के शरीर का एक ऐसा प्राकृतिक तत्त्व है जो अनुकूल वातावरण पाते ही विकसित हो जाता है? उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके प्रेम की पात्री एक विशेष नारी हो। कोई भी नारी हो सकती है। शर्त यही है कि वह नारी हो। इस प्रेम को लेकर दुनिया के इतिहास में अनेक व्यक्तिवाचक नाम अमर हो गए हैं। लेकिन करोड़ों वर्ष की अवधि में आठ-दस नाम क्या कोई अर्थ रखते हैं? क्या यह तथ्य इस बात का प्रमाण नहीं है कि प्रेम के क्षेत्र में व्यक्ति का कोई अर्थ नहीं? ऐसा समझना बहुत बड़ी ठगाई है।

लेकिन यह सब मैं क्यों लिख रही हूं, इसलिए न, कि मैं इस क्षेत्र में बार-बार असफल रही हूं। तुम्हारे विशाल व्यक्तित्व की आड़ में मैंने और व्यक्तियों को लेकर भी यह खेल खेला है। दीपू पर मैंने अपना अधिकार जताया है और मैं स्वीकार करती हूं कि

उसके तथा मेरे जीवन में वे क्षण आए हैं जो दो आत्माओं के मिलन का प्रमाण हो सकते हैं। पुराणों में मैंने पढ़ा है कि मनु और शत-रूपा ब्रह्मा के एक ही शरीर से उत्पन्न हुए थे और तब से वे निरन्तर उसी शरीर में समाने का प्रयत्न करते रहे हैं। मैं तुमसे क्या छिपाऊं, आज भी वे रातें मेरी आंखों में जाग उठती हैं जब दीपू मेरे सिरहाने बैठकर धीरे-धीरे मेरे सिर को सहलाया करता था।

आज की रात मेरी दृष्टि जितनी दूर देख सकती है और जितना स्पष्ट देख सकती है, उसपर मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि मेरे जैसी अन्तर और बाहर दोनों ओर से कुरूपा नारी में इतनी शक्ति कहां से आ गई है। मैं जानती हूं कि मेरी हमजोलियां आज भी मुझसे कहती हैं, "रामो, तुम अपने को कुरूपा क्यों कहती हो ? देखने-सुनने में तो तुम इतनी बुरी नहीं हो कि तुम्हें कोई प्यार ही न कर सके ! और प्यार का रूप से क्या सम्बन्ध है ? तुम इसी गांव की बेटी माधो को तो जानती ही हो। कैसा भयंकर रूप है उसका ! धुंधलके में उसे देखकर उसके अपने बच्चे ही चीख उठते हैं।"

उसके बारे में बहुत-सी कहानियां प्रसिद्ध हैं। इसी गांव और इसी गली में एक रात उसके अपने सात वर्ष के बच्चे ने उसको देखा और बुरी तरह चीखकर भागा। वह यह कहते हुए अपनी नानी की गोद में जा घुसा, 'नानी, बाहर कोई चुड़ैल खड़ी है। मुझे खा जाएगी।'

तब वह बुरी तरह कांप रहा था; और किसी तरह भी समझाने पर उसके मन में ढाढस नहीं बंध रहा था। क्या तुम कल्पना कर

सकते हो कि तब उसकी मां की क्या दशा हुई होगी ? अपनी ही सन्तान का वह काल बन चली थी। लेकिन आज उसके बेटे बड़े-बड़े पदों पर काम कर रहे हैं। वह राजरानी की तरह गर्व से सिर ऊंचा करके चलती है। आज जब कोई उसकी ओर देखकर हंस पड़ता है तो वह मुस्कराकर सगर्व उत्तर देती है, 'मुझे क्या देखते हो, मेरी कोख को देखो।'

कोख ! इस शब्द का ध्यान आते ही न जाने मैं कैसी हो जाती हूं। लगता है जैसे मैं अपने हाथों से ही अपना गला घोंट लूं। सच ! क्या नारी की सार्थकता यही है कि वह मां बने ? मुझे कई बार कई बच्चों ने 'मां' कहा है। लेकिन इस सम्बोधन से मेरी तृप्ति नहीं हुई। एक रिक्तता मेरे अन्तर में बनी रही। काश ! मैं किसी तरह उस रिक्तता से मुक्ति पा सकती ! किसी भी तरह मेरे जीवन का वह विराट् स्खलन मेरे आनन्द का आधार बन पाता। मेरा मन आज भी दरिद्र नहीं है। लेकिन फिर यह चारों ओर की विशाल दरिद्रता मुझे क्यों निगलती जा रही है ? किस काम आएगा यह पतिव्रत धर्म ? क्या होगा उस सतीत्व का जो नारीत्व को सफल न कर सका ? क्या एक उपयोगी जीवन को इस तरह अनुपयोगी बना देना, उर्वर भूमि को बंजर भूमि में पलट देना अपराध नहीं है ? इस अपराध का मार्जन कैसे हो ?...

तर्क उठ सकता है कि इस बात का क्या भरोसा कि फल लगने पर भी वह शुभ ही हो। लेकिन ये बातें क्या अब सोचने की हैं ? अब तो मैं केवल एक ही बात सोच सकती हूं कि क्या तुम मुझे इस योग्य भी नहीं समझ सकते थे कि मैं फलवती बन पाती ? लेकिन नहीं, मैं तुम्हारे साथ यह अन्याय नहीं करूंगी। तुम साधारण मनुष्य नहीं हो जो केवल गुणों में विश्वास करता है। तुम साहित्यप्रणेता शिल्पी हो, तुम फल की चिन्ता नहीं करते। तुम उस एक वस्तु को

चिन्ता करते हो जिसे मनुष्य की भाषा ने 'प्रेम' की संज्ञा दी है।

प्रेम की याद आते ही मुझे दीपू की याद आ जाती है। मुझे वहुत अच्छी तरह याद है कि उस दिन मेरा मन और तन दोनों ही वहुत खराव थे। रात को जाते समय दीपू ताकीद कर गया था कि मैं अच्छी तरह सोऊं और जव तक वह न आ जाए तव तक न उठूं। लेकिन आदमी तो स्वभाव का दास है। ठीक समय मेरी आंख खुल गई। शरीर टूट रहा था और मेरे कानों में दीपू के शब्द गूंज रहे थे। काश मैं किसीकी चिन्ता कर पाती! कर पाती तो तुम्हें ही क्यों गंवाती। मैं सदा की ढीठ, उठी और चक्की पर जा बैठी। पीसते-पीसते मेरा शरीर तप उठा। हाथ में तेज़ी आई और फिर एकाएक वह ऐसे शिथिल हो गया जैसे खिंची हुई कमान टूट जाती है। मुझे कुछ पता नहीं है कि क्या हुआ। आंखें जव खोलीं तो देखा कि मैं अपनी कोठरी में विस्तर पर लेटी हूं और मेरे सिरहाने बैठा हुआ दीपू मेरा माथा सहला रहा है। मैंने उस स्पर्श का अनुभव किया। मुझे ऐसा लगा जैसे वह स्पर्श मेरे सारे अन्तर-वाह्य को रससिक्त करता हुआ मुझे एक मधुर उष्णता से भर रहा है। एक ही क्षण में मैं सव कुछ समझ गई। मैंने फुसफुसाकर कहा, "दीपू!"

वह पीछे से उठकर मेरी खाट पर आ बैठा। तव वहां कोई और नहीं था। सूर्य की प्रथम किरण खिड़की से आकर उसके माथे पर चमक उठी थी, और उसके नेत्र एक तरल ज्योति से जगमगा रहे थे।

जीवन में मैंने पहली वार प्रेम को इतने पास से देखा। कई क्षण हम दोनों एक-दूसरे को देखते रहे। फिर मैंने महसूस किया कि मैं हांफ रही हूं। अपने श्वास को संयत करने का प्रयास करने के प्रयत्न में मैं एकाएक सुवक उठी और फफक-फफककर रोने लगी। आश्चर्य! दीपू तनिक भी परेशान नहीं हुआ। धीरे-धीरे जैसे

मधुसिंचित स्वर में बोला, "पगली ! न, न, इस बेचैनी से मुक्ति नहीं मिल सकती। सब कुछ छोड़-छाड़कर हमें अब यहां से चल देना चाहिए। मैं सब कुछ को त्याग दूंगा। तुम्हारे सिवाय अब मुझे और कुछ नहीं चाहिए। दूर, बहुत दूर, मैं ठेका लूंगा। वहां सिर्फ हम-तुम होंगे।..."

न जाने वह कब तक बोलता रहा। न जाने मैं किस लोक में चली गई। इतना ही जानती हूं कि मैंने दीपू का हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर अपने वक्ष पर रख लिया था। दो क्षण की निस्तब्धता के बाद दीपू ने फिर कहा था, 'तुम कुछ बोलती क्यों नहीं हो ? भगवान् के लिए कुछ तो बोलो।"

पर मैं स्वतन्त्र कहां थी जो कुछ बोल पाती ! चुपचाप उसकी ओर देखती रही। आखिर वह उठा, उसने कहा, "कुछ भी हो, अब तुम मेरा कहना नहीं लौटा सकतीं। तबीयत ठीक हो जाने दो। अभी इसी तरह लेटी रहो।...

और वह चला गया। मैं सोचने लगी, मुझे उसके साथ जाने से कोई नहीं रोक सकता। लेकिन किसी दिन तुम आए तो मैं क्या जवाब दूंगी ? तब यहां कौन मेरी मदद करेगा ? और मैं तुमसे एक बात पूछती हूं कि क्या अंग से परिचय हो जाने से प्रेम भी हो जाता है ? यशोदा से तुम्हारा अंग-अंग का घनिष्ठ परिचय था, फिर आज तुम दोनों एक-दूसरे के लिए अजनबी हो। लेकिन उस क्षण मुझे ऐसा लगा था कि जैसे दीपू पराया नहीं है। फिर भी मैं चुपचाप उसकी बातें सुनती रही थी। कोई जवाब न दे सकी थी। सोचती हूं, उस दिन मेरे संयम का बांध यदि टूट जाता तो ! ...

मुझे लज्जा आ रही है। एक परिणीता निर्लज्ज होकर अपनी प्रेम-कहानी अपने पति को इस तरह सुना रही है। तुम मेरे पति ही तो हो। तुम्हारा-मेरा कभी आंगिक परिचय नहीं हुआ, फिर भी

तुमने कभी अपने उस अधिकार का विसर्जन नहीं किया। यह ठीक है कि तुमने कई बार मुझे सन्देश भिजवाया कि मैं चाहूं तो शादी कर सकती हूं। लेकिन एक पति अपनी पत्नी से दूसरी शादी करने की बात कहे उसको यह अधिकार ही कहां है? उसे स्वयं अपनी शादी करने का अधिकार हो सकता है, लेकिन अपनी परिणीता को दूसरे के हाथों में सौंपने वाला वह कौन होता है? ...

लेकिन इस बात के लिए मैं तुम्हें दोष नहीं दूंगी। अपने जीवन की इस अन्तिम वेला में मैं इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ गई हूं कि दोषी वही होता है जो सहता है। मैं तुमसे कोई शिकायत नहीं करना चाहती। यदि तुम्हें ऐसा लगे कि मैं तुमपर दोषारोपण कर रही हूं तो तुम मुझे क्षमा कर देना। मेरी घृणा अगर किसी के प्रति हो सकती है तो वह भगवान् के प्रति ही होसकती है। या उसके प्रति हो सकती है जिसने नियम और विधान का निर्माण किया। या फिर अपने प्रतिहो सकती है। तुम तो शिल्पी हो, तुम्हारा हृदय बहुत कोमल है। तुम किसी पर अत्याचार कैसे कर सकते हो! तुमने न जाने कितने गुमराहों को राह दिखाई होगी, न जाने कितने अनाथों को सनाथ किया होगा। इतनी बड़ी भीड़ में यदि एक व्यक्ति के तुम्हारी ठोकर लग भी जाए तो इसमें अपराध की क्या बात है! अपराधी तो मैं हूं जो तुम्हारी होने की ज़िद करके भी दूसरे से प्रेम करती रही हूं।

मैं उस बीमारी की चर्चा कर रही थी। पूरा एक महीना मैं खाट पर पड़ी रही। पूरा एक महीना दीपू मेरी परिचर्या करता रहा। वह इस बात की भरसक कोशिश करता था कि दूसरे लोग इस तथ्य को न जान सकें। लेकिन मुझसे क्या उसका प्रेम छिप सकता था? एक दिन की क्या बात बताऊं! शाम हो चली थी, मैं अपनी कोठरी में लेटी जीवन की विडम्बना पर विचार कर रही थी। बाहर

ठण्डा धुंधलका छाया हुआ था। सीलन से भरी हुई मेरी कोठरी में झींगुर बोल रहे थे। बाहर रह-रहकर कोई पक्षी बोल उठता था। तभी दीपू वहां आया। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें एक अजीब-सी उदासी से भरी हुई थीं। उसकी आवाज़ में भी वही उदासी थी। वह जैसे मेरे वक्ष को चीरती चली गई। मुझे रोमांच हो आया। मैंने एकाएक कहा, "दीपू, क्या तुम एक काम कर सकते हो?"

"कहो, क्या कहना चाहती हो?"

"मैं कहना चाहती हूं कि मुझे यहां से कहीं ले चलो। इस कोठरी से दूर, बहुत दूर, जहां यहां का कुछ भी न हो।"

न जाने क्या हुआ, वह एकाएक खिल उठा। बोला, "आज ही चलोगी?"

"आज ही नहीं, इसी क्षण चल सकती हूं। यह क्षण फिर कभी नहीं आएगा।"

और अपने को विस्मय में डालती हुई मैं उठ खड़ी हुई। उसने चुपचाप मेरा हाथ थाम लिया। मैंने अनुभव किया कि वह बुरी तरह कांप रहा था। लेकिन मैं तो न जाने कहां चली गई थी। आगे बढ़ी। वह भी आगे बढ़ा। तभी जैसे एक दृश्य मेरी आंखों में कौंध गया। मैंने देखा, मैं उसके साथ अग्नि की प्रदक्षिणा कर रही हूं। विवाह के मंत्र मेरे कानों में गूंज रहे हैं। जैसे वर्षों पहले का वह दृश्य फिर साकार हो उठा, जब मैंने एक गुड़िया की तरह तुम्हारे पीछे चलकर वह विवाह रचाया था जो मुझे अब तक इस बन्धन में बांधे हुए है।···

उसके बाद मैं नहीं जानती, क्या हुआ और कैसे हुआ। इतना ही याद है कि मैं लड़खड़ाकर गिर पड़ी थी और व्याकुल विह्वल दीपू मेरे ऊपर झुक आया था। और बाहर से आकर उसका बड़ा भाई चीख उठा था, "निर्लज्ज! बेशर्म!"

इसके बाद जो कुछ हुआ उसे लिखने से कोई लाभ नहीं। तुम

समझ ही गए होगे। मैं जानती हूं कि तुम मेरी इस वेढंगी कहानी का ढंग विठा लोगे। मैं सिलसिलेवार कुछ नहीं लिख पा रही हूं। जैसे-जैसे याद आता जा रहा है वैसे-वैसे लिखती जा रही हूं। तरतीव देने का समय ही कहां है! मैं पहले लिख चुकी हूं कि दीपू किस प्रकार मेरे जीवन से सदा-सदा के लिए निकल गया।

अव इस गांव में कोई भी ऐसा नहीं रह गया था जो मुझसे सहानुभूति के दो शब्द कह पाता। और सच तो यह है कि अव मैं भी वदल गई थी। उस भीड़ में सवसे कट गई थी। जैसे सदा की अकेली हूं। अपने में खोई-खोई-सी, कभी इस कोठरी में बैठी रहती तो कभी ऊपर छत पर जा बैठती, जहां से मैं दूर-दूर तक फैले हुए खेतों को, खेतों के पास से वहनेवाली छोटी नहर को देख सकती थी। वह नहर वड़ी वनाई जा रही थी और वहां सैकड़ों आदमी काम करते दिखाई देते थे। वहां से मैं उस सड़क को भी देख सकती थी जो उस नहर के ऊपर से होकर मेरे घर के आगे से जाने वाली थी।

हमारा यह विशाल और पुराना देश अव आज़ाद हो गया है न? आज़ादी के वाद चारों ओर एक नया जीवन उमड़ता आ रहा है। उमड़ते हुए इस नये जीवन के गर्त में अभी वहुत-सी व्यथाएं भरी हुई हैं। पहले जैसे ज़ुल्म अव नहीं हैं, लेकिन उनके स्थान पर वहुत-से नये ज़ुल्म पैदा हो गए हैं। ऐसा हुआ ही करता है। भविष्य जव जन्म लेता है तो पीर उठती ही है। सन्तान के जन्मते समय मां भी असह्य पीड़ा को सहती है। मैं उस पीड़ा को नहीं पहचानती, लेकिन जिन्होंने उस पीड़ा को सहा है उनको मैंने वहुत पास से देखा है। इसलिए क्या हमारा यह फर्ज़ नहीं है कि हम भी उस पीड़ा को सह लें और उसी तरह मैं भी किसीसे गिला-शिकवा किए विना इस पीड़ा को सहती रहूं?

लेकिन जो पीड़ा मैं सह रही हूं वह क्या किसी उज्ज्वल भविष्य

की सूचक है ? जब मेरी लालटेन की लौ अन्तिम बार टिमटिमा रही है, तब मुझे ऐसा लगता है कि आदमी ने अपने फुसलाने के लिए स्वयं ही बहुत-से भ्रम अपने चारों ओर फैला लिए हैं। हां, मैं इतना कह सकती हूं कि इस घोर पीड़ा और यातना में भी मैं तुम्हें घृणा नहीं कर पाई। बल्कि उस छत पर बैठकर और उस नये संसार को जन्म लेते हुए देखकर मेरे मन में बार-बार यही उठा कि मैं भी उनमें जाकर अपने को खो दूं। क्या तुम विश्वास करोगे कि मैंने एक दिन ऐसा ही किया ? मैं जो पिछले बीस वर्षों में मकड़ी के जाले की तरह अपने बनाए हुए ताने-बाने में उलझती रही थी, उसी 'मैं' ने उस सबको एक क्षण में तोड़-फोड़ डाला और नहर के किनारे पड़े हुए मजदूरों के उस कैम्प में जा पहुंची।

वहां सबसे पहले मेरी जिस व्यक्ति से भेंट हुई वह अधेड़ उम्र का मेट था, लेकिन उसके खुरदरेपन में एक अजीब-सा आकर्षण था। उसने मुझे देखकर पूछा, "किससे मिलना है ?"

मैंने सहसा उत्तर दिया, "तुमसे ही समझ लो।"

उसे जैसे विश्वास नहीं आया। बोला, "मुझसे ? मैं तो तुमको जानता ही नहीं !"

मैंने कहा, "बात करने के लिए क्या जानना जरूरी है ?"

उसका आश्चर्य शायद और भी बढ़ गया। बोला, "मैं तुम्हारी बात समझा नहीं !"

मैंने उत्तर दिया, "मैंने अपनी बात अभी कही ही कहां है ? मुझे कुछ काम दे सकते हो ?"

उसने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा, फिर बोला, "क्या काम करोगी ? अभी केवल ईंट और मिट्टी ढोने का काम है। कर सकोगी ?"

मैं बोली, "क्यों नहीं कर सकूंगी ? सामने इसी गांव में रहती हूं। मिट्टी भी ढो सकती हूं, चक्की भी पीस सकती हूं और तुम चाहो

तो तुम लोगों का खाना भी बना सकती हूं।"

वह कुछ सोच में पड़ गया। फिर बोला, "अच्छी बात है, तुम कल सवेरे से ही काम पर आ सकती हो।"

उसके बाद की बात क्या बताऊं! गांव-भर में यह अपवाद फैल गया कि रामो मज़दूरी करने लगी है। मजदूरी तो मैं अब तक भी करती आ रही थी, लेकिन बड़े घर के कुलीन लोगों की। अब उनकी मज़दूरी करने जा रही थी जो स्वयं मज़दूर थे। अब उनके बीच में रहने जा रही थी जो रहने के नियम-कायदे नहीं जानते थे। क्या इन सब बातों के पीछे यह तथ्य नहीं था कि अब तक मैं एक व्यक्ति थी और अब सार्वजनिक बनने जा रही थी? वह भी वहां जहां जीवन की निचली गहराइयां मुंह बाए निगल जाने को आतुर रहती हैं? मैंने बहुत कुछ देखा और सहा था। गांवों में जहालत देखी। अभाव में पिसते, खण्डहरों में जीवन बिताते, घास-फूस से पेट भरते इंसानों को देखा था; लेकिन अब यह भी देखने जा रही थी कि किस तरह खुले आकाश के नीचे फूस की झोंपड़ियों में पुआल के ऊपर लोग अपने घर से दूर हंसते-खिलखिलाते मेहनत-मज़दूरी करके जीवन बिता देते हैं। दिन-भर बोझा ढोते हैं, मिट्टी खोदते हैं, शरीर को काट देने वाले शीत में, धरती माता के गर्भ से निकलने वाले पानी में खड़े रहकर भी निरन्तर फावड़ा चलाते रहते हैं। कोई शिकवा-शिकायत नहीं, बहुत थकान हुई तो गीत गा लिए, अबे-तबे, मां-बहिन की गालियां देकर गरमी पैदा कर ली। ठर्रा मिल गया तो मानो जन्नत मिल गई, नहीं तो ठेकेदार या उसके मुंशी के साथ कुछ कहा-सुनी कर ली, फिर खुशामद कर ली। कैसे स्वदेशी साधन हैं ये, कैसी जहालत है, लेकिन कैसी मुक्तता! कहीं पर्दा नहीं, झिझक नहीं, मानो मुक्त भाव से जो कुछ आया, उसे सह लिया, झेल लिया, फेंक दिया और फिर रीते होकर अपने को काम

में उलझा लिया।

मैं स्वीकार करूंगी, कि एकाएक यह वातावरण मुझे अच्छा नहीं लगा। उनको इस प्रकार खटते देखकर मुझे पीड़ा हुई थी और क्रोध आया था सम्पन्न लोगों पर, जिनमें अव दीपू भी था। मैंने शायद अभी तक यह नहीं वताया था कि दीपू भी अव ठेकेदारी करने लगा था। यदि मैंने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया होता तो आज मैं ठेकेदारिनी वनकर रानी की तरह रहती होती। सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त कभी इस नहर पर आकर, इन मज़दूरों की अवस्था पर आंसू वहाती, कभी उनकी सुस्ती देखकर कोसती, कभी उनके आलस्य पर उफन उठती। लेकिन भाग्य का लिखा कभी क्या कोई मिटा सका है ? दो परित्यक्ताओं के जीवन में कितना वड़ा अन्तर विधि ने डाल दिया था ! लेकिन मुझे इस वात का तनिक भी दुःख नहीं था, वल्कि कुछ ही दिन वाद मुझे उस काम में वड़ा रस आने लगा। मैंने मिट्टी भी उठाई, क्योंकि मैं अनुभव करना चाहती थी कि दिन-भर मिट्टी ढोने वाली नारियां, जो हारी-वीमारी की चिन्ता नहीं करतीं, जो अपने घायल पैरों की ओर देखतीं भी नहीं, जो चादर में मुंह लपेटे, सिर पर मिट्टी की टोकरी धरे, धरे-धीरे गुन-गुनाते हुए, पुरुष को मुस्कराते देखकर मुस्कराती हुई, वड़ी तेज़ी से आतीं-जातीं, वे सव कैसा अनुभव करती हैं। सच कहती हूं, दो-तीन दिन वाद मुझे उस काम में रस आने लगा। उस मेट ने, जिसका नाम दीनानाथ था, और जिसे सव लोग दीनू कहकर पुकारते थे, मुझसे कहा, वैसे तो तुम्हारी इच्छा है, जो चाहो काम कर सकती हो, लेकिन तुम किसी ऊंचे कुल की जान पड़ती हो। तव क्या यह अच्छा नहीं होगा कि तुम हमारे खाने-पीने का इन्तज़ाम करती रहो ?"

मैंने उत्तर दिया, "यह सव तो मैं कर ही सकती हूं, लेकिन कभी-कभी मुझे मिट्टी ढोना अच्छा लगता है।"

गांव से केवल चार फर्लांग का फासला था। मैं बहुत सवेरे उनके लिए चाय बनाकर ले जाती और फिर कुछ देर काम करके लौट आती। उसके बाद दोपहर को खाने-पीने का दौर चलता। मेरा वह घर जिसमें कभी सन्नाटा गहराता रहता, मेरी वह कोठरी जिसमें मैंने तुम्हारे साथ रहने के सपने देखे थे, जिसमें मैंने दीपू के भाई और दीपू के प्रेम की याचना सुनी थी, जिसमें मैंने उन साधुओं के साथ भाग जाने की योजना बनाई थी, जिसमें मैंने न जाने कितने और खेल खेले थे, अब उन मजदूरों और उनके मेट का क्रीड़ास्थल बन गई थी। मैं सच कहती हूं कि उनमें कई लोग थे, जिनका मैं आदर करती थी और जिनके जीवन से मैंने बहुत कुछ सीखा था। उनमें बहुत-से विवाहित थे और सैकड़ों मील दूर उनकी पत्नियां अपने बच्चों को लिए उनकी राह देखा करती थीं। मैंने कभी-कभी उनके साथ अपनी तुलना की है। क्या मैं भी यह कह सकती हूं कि मेरा पति भी मुझसे सैकड़ों मील दूर मेरे लिए सम्पत्ति इकट्ठा कर रहा है? काश, मैं ऐसा कर पाती! काश, इन पिछले बीस-इक्कीस वर्षों में मेरा पति मुझसे मिलने आया होता! उफ, मैं, तब मैं कितनी हीन हो उठती थी! उन विराट् प्रतिमाओं के सामने मेरा अस्तित्व समुद्र में एक बूंद की तरह मालूम होने लगता था। तब मैं कसक उठती थी। और···

नहीं, मैं आज कुछ नहीं छिपाऊंगी। साहस करके सब कुछ कह देना ही होगा। तब मुझे ऐसा लगता था कि मेरा पति एक महान् लेखक न होकर एक साधारण मजदूर होता। मैंने पढ़ा, तुम्हारा वह उपन्यास, जिसमें तुमने मजदूर-जीवन का नग्न चित्र खींचा है, उनकी पीड़ा और वेदना को साकार किया है। आश्चर्य होता है कि तुमने यह सब कहां और कैसे देखा! घुमक्कड़ हो, शायद तुम इन लोगों के बीच जाकर रहे होगे। लेकिन एक शिकायत मैं तुमसे

करूंगी कि तुमने इनके उल्लास का पूरी तरह से अनुभव नहीं किया, क्योंकि शायद तुम उनके साथ एकाकार नहीं हो सके। तुमने कई शादियां की हैं। काश, तुम किसी मज़दूरिनी से शादी कर पाते !

मैं क्या लिख गई ! अनजाने में ही मैं अपनी कहानी की भूमिका बनाती जा रही हूं। हां, मैं तुम्हें ऐसी कहानी बताने जा रही हूं जिसपर तुम्हें विश्वास नहीं होगा। मुझे भी नहीं हुआ था। परन्तु आज जब मेरे उस जीवन की अंतिम घड़ी पास आ रही है, वर्तमान से नाता टूटने वाला ही है, तब मैं तुम्हें सब कुछ क्यों न बता दूं ?

मैं नारी हूं, उस दल में भी कुछ नारियां थीं, लेकिन बहुत थोड़ी। उन सबके पति उनके साथ नहीं थे। उनमें अविवाहिता भी थीं, विधवा भी थीं, लेकिन उनके जीवन में ये सीमाएं कोई अर्थ ही नहीं रखतीं। वे मुक्त होकर आपस में मिलती थीं। जब मैं इस कैंप में आई तो मैंने पाया कि झुनिया विधवा है। लेकिन वह महीना बीतते न बीतते उस दल के एक मज़दूर कन्हाई से उसकी शादी हो गई। और उस रात जो जशन मनाया गया उसकी कल्पना भी शायद तुम नहीं कर पाओगे। अपने इस पापी मन की क्या बात कहूं ! जैसे युग-युग की संचित वेदना ने मेरे मन को जकड़ दिया था और मैं दूर बहुत दूर भाग जाना चाहती थी। मैं बार-बार हंसने की कोशिश करती थी, लेकिन होता यह था कि मेरे आंसू उमड़ आते थे। मैंने उनमें से किसीको भी अपनी ओर आने का बढ़ावा नहीं दिया। मैं जानती हूं कि वह मेट कभी-कभी मेरी ओर एक विचित्र-सी प्यासी दृष्टि से घूरा करता था। उसने कई बार मुझसे बातें भी करनी चाहीं। वह मेरी सारी कहानी सुन चुका था। छोटे-से गांव में पर्दा नहीं रह सकता। शायद वह कहानी जानकर ही मेरे प्रति उसका आकर्षण बढ़ गया था। उस रात के बाद, वह और भी सदय हो उठा था। शायद उसने मेरे आंसू देख लिए थे।···

उस दिन के वाद, वह मेरे पास आने की कोशिश करता, लेकिन अपने जीवन में वह जितना मुक्त था, मेरे पास आकर वह उतना ही उलझ जाता था। वह एक वार भी मुझसे मेरे पति की वात नहीं कर सका। शुरू-शुरू में, मैं खिची-खिर्ची-सी रहती थी, लेकिन न जाने किस अनजाने क्षण से मैं उसकी ओर देखकर मुस्कराने लगी। खेत के वीच में से होकर चलने से पगडंडी वन जाती है और फिर अपने-आप ही वह संकीर्ण पगडण्डी एक स्थायी मार्ग का रूप ग्रहण कर लेती है। मेरे और उसके वीच में भी वातचीत का स्थायी मार्ग तैयार हो गया। आखिर वह पुरुष था और मैं थी नारी। संसार में इतना ही तो सत्य है। शेप सव तो आवरण-मात्र है। लेकिन इस होने का जो परिणाम हो सकता है उसने हमारी स्थिति की चिन्ता नहीं की। हम दोनों में एक गहरी घनिष्ठता पैदा हो गई और फिर वह घनिष्ठता उस छोटे-से गांव में घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति की चर्चा का विषय वन गई।

मेरी पड़ोसिनें, देवरानियां और ननदें, सभी धीरे-धीरे मुझसे दूर हट गईं। वस पास रह गई थी वही एक मुहवोली देवरानी, जो अक्सर मेरे पास आती थी और इस वात का प्रयत्न करती थी, कि मैं मजदूरों के मुंह न लगूं। वड़े घर की माताजी भी अव मुझसे मुंह छिपाने लगी थीं। मैंने भी उन्हें संकट में डालने का प्रयत्न नहीं किया। उनके घर की ओर जाकर झांका तक भी नहीं।

क्यों मैं तुम्हें विश्वास दिलाऊं कि मैं उस क्षण तक तुम्हें और केवल तुम्हें ही प्यार करती थी ? मैं तव भी अपने को तुम्हारी ही पत्नी समझती थी ? मानती थी, मेरी आत्मा पर तुम्हारा ही अधिकार है। शरीर की वात तो तुम स्वीकार करते ही नहीं। इसलिए मैं सव कुछ अस्वीकार करती चली गई। इसीलिए दीनू को भी मैंने उस देहरी को पार नहीं करने दिया, जिसको पार करने का अधिकार

केवल तुम्हींको था।

वे सब मुझे कितना प्यार करते थे! तुमने किया कभी मुझे प्यार? क्या मैं उस घटना को, जो स्टेशन पर घटी थी, तुम्हारे प्यार का प्रतीक मान लूं? तुम्हारी जेब में जो कुछ था, वह सब तुम मुझे दे गए थे। लेकिन प्यार क्या जेब की वस्तु से होता है? अपनी आत्मा का एक अंश भी तुमने मुझे दिया होता, तो मैं तृप्त हो जाती। जानते हो, जो पैसे बच गए थे उनका मैंने क्या किया? तुम तो कलाकार हो, सोचा होगा कि मैं उन पैसों से अपना पेट भी भरूंगी। पर नहीं, कुछ दिन उनका तावीज़ बनाकर पहिने रही, फिर मैंने दीपू से प्रार्थना करके तुम्हारे लिए बहुत सुन्दर-सा उपहार, एक बहुत सुन्दर हाथ-घड़ी खरीदी थी। मैं उस अवसर की टोह में थी कि उसे तुम्हें भेंट कर सकूं। याद दिला सकूं कि समय बीतता जाता है।

एक दिन वह अवसर आ गया। तुम्हें उस अवसर की खूब अच्छी तरह याद होगी, क्योंकि वह घड़ी शायद अब भी तुम्हारे पास हो। तुम्हें अब स्पष्ट हो जाएगा कि वह घड़ी कैसे तुम्हारे पास पहुंची। लेकिन इससे पहले मेरे जीवन में इतना कुछ हो गया था कि मुझे लगता है कि उसे कहे बिना मुक्ति नहीं मिलेगी।

उस दिन जब खाने-पीने से निपटकर बैठी थी और सब लोग काम पर चले गए थे, तब दीनू कुछ कहने के लिए रुक गया। उसकी आंखों को देखकर मैं जान गई थी कि वह क्या कहने वाला है। मुझे उसकी बातें अच्छी लगने लगी थीं। वह धीरे-धीरे मेरे पास आया। कहा, "तुम कितनी मेहनत करती हो, तुमने हमारे जीवन में कितना रस उंड़ेला है! न जाने कहां से आकर तुम हमारे लिए भगवान् का वरदान बन गई हो!"

मैं एकाएक बड़े जोर से हंस पड़ी, "तुम भी क्या लेखक हो!"

वह कुछ झिझका और तभी दरवाज़े से पोस्टमैन ने एक चिट्ठी

फेंकी, "चिट्ठी लेना जी !"

एकसाथ हम दोनों की दृष्टि उस चिट्ठी पर गई। मैं उन अक्षरों को पहचानती थी। वह मनोज की मां की चिट्ठी थी। उस एक क्षण में मेरे हृदय में नाना प्रकार के भाव उठे। एक तीव्र घृणा ने मुझे जकड़ लिया था। और जैसे किसीका सिर काट रही हूं, उस लिफाफे को फाड़कर उसमें से चिट्ठी निकाल ली, और एक-साथ उपेक्षा और उत्सुकता से उसे पढ़ना शुरू कर दिया—

जीजी,

मैं जानती हूं कि मेरे अक्षर पहचानकर तुम घृणा से भर उठोगी। लेकिन फिर भी पत्र लिख रही हूं, क्योंकि मैं जानती हूं कि घृणा करके भी तुम इस पत्र को पढ़ोगी अवश्य। मैंने तुम्हारी सम्पत्ति पर एक बार नहीं दो-दो बार डाका डाला है। तुम्हारे दीपू को तुमसे छीनकर मैंने पहली बार ही तुम्हारे साथ अन्याय नहीं किया, बल्कि उससे पहले भी एक बार तुम्हारी उस सम्पत्ति को छीनने का प्रयत्न मैंने किया था जिसकी याद में तुम आज भी आंसू बहा रही हो।

मैं सच कह रही हूं और यह सच कहने का अवसर क्यों आया, इसका भी एक कारण है। तुमसे पहले इस सच की स्वीकृति मैंने उनके सामने की है। मैं समझती थी कि वे मुझे प्यार करते हैं और प्यार सचाई को देख लेता है। वह शरीर की भाषा नहीं है, चेतन की भाषा है। लेकिन यह एक बहुत बड़ा भ्रम था, क्योंकि मैंने स्पष्ट अनुभव किया है कि वह अज्ञात पीड़ा से कराह उठे थे। और आज जब इस घटना को कई दिन बीत गए हैं, वे मुझसे बहुत दूर हो गए हैं। मैं जानती हूं कि इस दूरी का क्या परिणाम हो सकता है। दरार को कभी बन्द नहीं किया जा सकता। विशेषकर दिल में पड़ जाने वाली दरार को।

तुम सोचोगी कि आखिर यह बात क्या है। तुम्हें तो मनोज से बहुत प्यार रहा है। कई बार कहा है, 'न जाने मनोज को देख कर मेरे अन्तर में इतना खिचाव क्यों पैदा हो जाता है! मैं क्यों उसके और अपने बीच में एक अज्ञात आकर्षण का अनुभव करती हूं!'

मैं यह बात सुनती तो मेरा दिल थरथरा उठता था, क्योंकि मैं जानती थी कि तुम सच बोल रही हो, और वह सच स्फटिक के समान तुम्हारे हृदय में से उत्पन्न हुआ है। निश्चय ही तुम अपने पति को, जिसको तुमने कुछ क्षण के लिए देखा होगा, बहुत प्यार करती हो।

जीजी, मनोज तुम्हारे उन्हीं महान् साहित्यकार का पुत्र है जिनके नाम पर तुम आज भी सौभाग्यवती हो। यह एक ऐसा सत्य है जिसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं। मेरी उनके साथ शादी नहीं हुई, लेकिन एक महान् लेखक के रूप में मैंने उनको पहचाना और मैं ही उनके पास गई।

कैसे हुआ, क्या हुआ, यह सब चर्चा व्यर्थ है। मनुष्य दुर्बल है। मैं उन्हें दोष नहीं दूंगी। मुझसे उन्होंने विवाह करने का प्रस्ताव किया था। मैं ही साहस न कर सकी। 'मैं' से मेरा अर्थ केवल मुझसे ही नहीं, इसमें मेरा परिवार, मेरी जाति, और सबसे ऊपर संस्कार-बोध सम्मिलित हैं। मेरे विवाह की बात कहीं और चल रही थी और इतनी दूर पहुंच चुकी थी कि वापिस लौटना सम्भव न हो सका। मैं किसी दूसरे की हो गई। मैंने उनसे कुछ नहीं कहा। बहुत बार साहस बटोरने की चेष्टा की, लेकिन कर नहीं पाई। काश पहले दिन ही यह सत्य उन तक पहुंच सकता!

लेकिन जो पहले दिन नहीं हो सका वह एक दिन होकर ही रहा। विवाह को सात महीने भी न बीते थे कि मनोज का जन्म हुआ। वह पूर्ण स्वस्थ था। इसी बात को लेकर धीरे-धीरे कानाफूसी

शुरू हुई। और शीघ्र ही हमारे चारों ओर का वातावरण कटुता हो उठा। अन्ततः उन्होंने मुझसे पूछा और मैं उन दिन अपने को रोक न सकी। उस नवजात शिशु को उस दिन उनके चरणों पर डाल दिया और फफक-फफककर रो उठी। उनके अन्तर में न जाने क्या था। ऊपर से वे मुस्कराए। केवल इतना ही कहा, 'भावना की ये बातें व्यर्थ हैं। जो नहीं हो सकता, वह नहीं हो सकता। अच्छा यही है कि हम दोनों रज़ामन्दी से अलग हो जाएं।'

अन्त तक वे उसी बात पर दृढ़ रहे। पहले तो मैं बहुत रोई, प्रार्थना की, लेकिन धीरे-धीरे एक अजाना-सा हर्ष मुझे दृढ़ करता रहा। अपराध मेरा था। अपराध की उस स्वीकृति ने मुझे शक्ति दी। एक दिन मैंने आंसू पोंछ डाले। कहा, 'ठीक है, चली जाऊंगी।'

तब तक उस महान साहित्यकार की शादी हो चुकी थी। मेरे पति ने कहा, 'मैं सब बातें उन्हें लिख दूं। उनसे फैसला करवाने के लिए वे पूरा प्रयत्न करेंगे।'

मैंने उनके चरण छूकर अन्तिम बार प्रार्थना की, 'यदि तुम्हें मुझ से ज़रा भी सुख मिला हो तो अब इस बात की चर्चा किसी और से कभी न करना।'

उन्होंने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। आंखें भीग आईं। धीरे-धीरे बोले, 'काश मैं अपने मन को समझा पाता! लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है। और मैं यह नहीं चाहता कि हम दोनों का जीवन वेदना की इस काली छाया से कलुषित होता रहे। फिर भी विश्वास दिलाता हूं कि इस एक बात को छोड़कर और जैसे भी सम्भव होगा, मैं तुम्हारी सहायता करने का प्रयत्न करूंगा।'

जिस दिन मैंने उनका घर छोड़ा उस दिन वे कहीं चले गए थे। जानती थी क्यों गए हैं। बहुत सम्पन्न व्यक्ति नहीं थे। फिर भी अपने सारे सामान के अलावा पांच सौ रुपये उन्होंने मेरे लिए

छोड़ दिए थे। एक बार तो मन में उठा कि सब कुछ को छोड़कर चली जाऊं। लेकिन हुआ इसके बिल्कुल विपरीत। मेरे सामने एक महाशून्य के अतिरिक्त और कुछ था भी तो नहीं। उस शून्य को भरने के लिए कुछ तो चाहिए ही था। माता-पिता-सहित नातेदारों के मेरे उस विराट् परिवार में केवल मेरी एक दूर की बहन ही ऐसी थी जिसने मुझसे घृणा नहीं की। बहन से अधिक मैं उसे सहेली के रूप में पहचानती थी। उसीकी छत के नीचे मैंने नयेजीवन की दीक्षा ली, और अपने को विधवा मानकर इधर-उधर नौकरी की तलाश करने लगी।

लेकिन ये सब बातें मैं तुमसे क्यों कहूं? नौकरी मिली और फिर छूट गई। यह सब तुम्हारे सामने ही तो हुआ। तुम्हारे सामने ही मैंने तुम्हारी सम्पत्ति पर डाका डाला। अब वह सम्पत्ति भी मेरे हाथ में आकर खिसकती जा रही है। मैं फिर तुम्हारी शरण में आई हूं। मैं नहीं जानती कि यह सब क्यों हुआ। लेकिन मुझे विश्वास है कि दीपू अब भी तुम्हारी बात नहीं उलट सकता।

जीजी, तुम्हारी अनुभूति इतनी तीव्र है कि उसे जगाने के लिए शब्दों की ज़रूरत नहीं।

तुम्हारी कृपाभिलाषिणी
यशोदा

यह पत्र पढ़कर मेरी वह कोठरी एक बार फिर बोझिल हो उठी। दम घुटने लगा। मैं कुछ भी समझ सकने में असमर्थ थी। एकाएक दीनू ने मेरी ओर देखा और कहा, "क्या बात है, तुम इस तरह कांप क्यों रही हो?"

न जाने क्या हुआ, मैं और भी तेजी से कांपी। वह पत्र मेरे हाथ से गिर पड़ा, और मैंने बड़े जोर से खिड़की को पकड़ लिया।

पसीने की बूंदें मेरे माथे पर चमक आईं। दीनू और भी घबरा उठा। लेकिन मैंने मुस्कराकर कहा, "घबराने की कोई बात नहीं, तुम जाओ, मैं आज नहीं जा सकूंगी।"

उसने फिर मेरी ओर देखा। मैंने उसी तरह दृढ़ता से कहा, "जाओ।"

वह चला गया। और यह अच्छा ही हुआ। जैसा मेरा खयाल था, उसके जाने के पांच मिनट बाद ही मैंने दीपू की चिरपरिचित पग-ध्वनि सुनी। मैं उसका इन्तज़ार कर रही थी। वह दीपू ही था। उसके चेहरे पर वेदना के लक्षण स्पष्ट थे। फिर भी उसका रूप निखर आया था। वह शहरी पोशाक में बहुत सुन्दर लग रहा था। क्षण के सहस्रवें भाग में मेरे मन में एक विचार कौंधा, यह दीपू मेरा हो सकता था और चाहूं तो आज भी हो सकता है। लेकिन दूसरे ही क्षण मैंने ज़ोर से अपनी गर्दन को झटका दिया और मुस्कराते हुए बोली, "आज किधर रास्ता भूल गए, दीपू ?"

दीपू चुपचाप आकर देहरी पर बैठ गया। वह कई क्षण तक मेरी ओर देखता रहा। फिर उसने अपनी जेब से अखबार निकाला और मेरे हाथों में थमा दिया। बोला, "अपने को इस तरह तिल-तिल करके क्यों मिटा रही हो ? चलो इस बार मैं तुम्हें लेकर चलूंगा।"

मैंने अखबार खोलते हुए कहा, "कहां ले चलोगे ?"

तभी मेरी दृष्टि अखबार के प्रथम पृष्ठ पर गई। आंखों में तिरमिरारे-से उठे और मेरे सामने तुम जैसे साकार आ खड़े हुए हो। वह तुम्हारा ही चित्र था। बहुत बड़ा चित्र। उसके नीचे लिखा था—'भारत के अप्रतिम शिल्पी और दार्शनिक, अमीयकुमार दास, जिनका जन्मोत्सव २१ तरीख को बड़े पैमाने पर मनाया जाएगा। इस बार की विशेषता यह है कि श्री दास को न केवल साहित्य का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार मिला है, बल्कि विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टर की

उपाधि देकर भी सम्मानित किया है। विदेशों में उनके अनेक ग्रन्थों का अनुवाद हो चुका है। वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् हैं। शीघ्र ही वे एक लम्बी यात्रा पर बाहर जाने वाले हैं।...

पढ़कर मेरी क्या दशा हुई, हर्ष के मारे आंखों में आंसू भर आए। हृदय ऐसे उल्लास से भर उठा जिसकी परिणति सम्पूर्ण विसर्जन में ही थी। मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं तुम्हारे उस चित्र को चूम लूं और चूमती ही रहूं, चूमती ही रहूं। लेकिन...

अब उस लेकिन की बात क्या बताऊं ? मुझे स्वयं आश्चर्य होता है कि मैं अब तक जीवित कैसे रह पाई। शायद इसीलिए कि मेरे सुख और दुःख, हर्ष और विषाद का पलड़ा नीचे-ऊपर होता रहता था। किसी एक की चरम सीमा पर मैं कभी नहीं पहुंच पाई। मैं दीपू को लेकर दुखी थी, तो तुम्हारे सम्मान को लेकर सुखी भी थी। इसलिए मेरा हृदय विदीर्ण होने से रह गया। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे तुम मुझे अपने पास बुला लोगे। मेरी सारी उलझन दूर हो गई। मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे क्या करना है। मैंने कहा, "मैं चलूंगी दीपू !"

दीपू उठ खड़ा हुआ, "आज ही चलना है।"

"हां, आज ही चलूंगी।"

दीपू झिझका, "लेकिन..."

मैं जैसे कांपी, "लेकिन क्या ?...दीपू, मैं जानती हूं तुम मुझे प्यार करते हो। तुम शायद विश्वास न करोगे, मैं भी तुम्हें प्यार करती हूं और उसी प्यार का वास्ता देकर मैं तुमसे एक बात कहती हूं। तुम यशोदा को धोखा मत देना। उसने जो कुछ किया, वह विवश थी।"

दीपू जैसे खड़ा था वैसे ही खड़ा रह गया। युगों जितने एक क्षण के बाद बोला, "तो तुम्हें पता लग गया है !"

मैं बोली, "सब कुछ जानकर ही तो मैं तुमसे कहती हूं कि..."

वह एकाएक बोल उठा, "रहने दो भाभी, मैंने तुम्हारे साथ कम अन्याय नहीं किया है। अब ऐसा अवसर न आने दो कि मैं तुम्हारी बात न मान सकूं। मैं तुमसे छिपाऊंगा नहीं। मेरा मन बहुत दुखी है। फिर भी विश्वास रखो।..."

मैंने उसे टोकते हुए उत्तर दिया, "बस, इतना ही काफी है। आगे इसकी चर्चा नहीं करूंगी। बुरा न मानो तो केवल एक बात कहूंगी। और वह यही है कि यदि मनोज एक क्षण के लिए भी तुम्हारे पथ की बाधा बने तो मेरे पास भेज देना।"

दीपू तत्परता से बोला, "नहीं. यह कभी नहीं होगा। मैंने चाहे जितने भी बुरे काम किए हों, लेकिन मैं मां को उसके बच्चे से अलग नहीं करूंगा।"

तब मैं कितनी खुश हुई थी! बहुत दिनों से सहेजकर रखी हुई उस घड़ी को निकालकर मैंने दीपू को दिया और कहा, "सुनो, उनके सम्मान में जो उत्सव हो रहा है उसमें तुम जाना और मेरी ओर से यह भेंट उन्हें दे आना। लेकिन मेरे बारे में कुछ न कहना। केवल एक चिट इसके साथ लगा देना, 'एक परिचिता की ओर से'।

दीपू हकबकाकर मेरी ओर देखने लगा, "तुम नहीं चलोगी?"

"नहीं, मैं नहीं चलूंगी।"

वे शब्द मैंने इतनी दृढ़ता से कहे थे कि मैं स्वयं चकित हो उठी थी। और दीपू साहस नहीं कर सका था कि वह मुझसे कुछ कहता। वह जैसे आया था वैसे ही चला गया। उसके जाने के बाद मैंने उस चित्र को खोलकर अपने सामने रख लिया। लगा जैसे तुम मेरे पास हो—इतने पास कि मैं तुम्हारी सांसों की आवाज़ को सुन रही हूं, तुम्हारे नेत्रों का प्रकाश मेरे अन्तर को वेधता चला जा रहा है, तुम्हारी सुमधुर वाणी वक्ष में मधु का सागर लहरा रही है।

यकायक न जाने क्या हुआ, मैं उस चित्र पर गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी। तब तक रोती रही जब तक कि वह चित्र मेरे आंसुओं से गल नहीं गया और वे उस कोठरी के उस ठण्डे फर्श में समा नहीं गए। उसके बाद छूट गया सब खेल, पीछे रह गए वे मज़दूर, उनका वह भोलाभाला मेट। अब मैं थी और थी मेरी कोठरी। तीन महीने बाद मेरी उस वाचाल देवरानी ने आकर कहा, "जीजी, तपस्या काफी कठोर है। इस तरह तिल-तिल कर मिटने से तो एक बार मुक्ति मिल जाए तो अच्छा है।"

काश वह मुक्ति मिल पाती!

अब मुझे कुछ नहीं लिखना। लालटेन का तेल चुकता जा रहा है और मुझमें इतना साहस नहीं है कि उसमें और तेल डाल सकूं, बहुत सपने देखे, बहुत साहस किया। लेकिन उस सबका अन्त धुएं की तरह सारे वातावरण को कड़वा करके रह गया। धुआं तो धूपबत्ती का भी होता है जो धीरे-धीरे चारों ओर फैलता है और वातावरण को एक सुगन्ध से भर देता है। एक धुआं सिगरेट का भी होता है जो धुआं उड़ाने वाले के हृदय को दग्ध करता हुआ उसके चारों ओर के वातावरण को दुर्गन्ध से भर देता है। धुआं भीमकाय शक्तिशाली इंजनों का भी होता है जो क्षणिक दुर्गन्ध के साथ भविष्य को स्वर्णिम बनाता रहता है।

लेकिन मैं धुएं के चक्रव्यूह में क्यों फंसूं? हर धुएं के साथ दोनों पक्ष जुड़े हुए हैं। यह मेरी बत्ती का धुआं है जो काला ही काला कर रहा है। लेकिन एक कड़वे तेल का भी तो धुआं होता है जो रूपसी के नयनों का शृंगार होता है। पर मैं किसीका शृंगार नहीं बन

सकी। मैंने किसीके जीवन में कड़वाहट भी पैदा नहीं की। मैं स्वयं ही जली, और ऐसी जली कि धुआं भी पैदा नहीं हो सका। कितनी बातें लिखूं? आज मेरी लेखनी की नोक पर समुद्र की उन्मत्त उत्ताल तरंगों की तरह न जाने क्या-क्या उमड़ता आ रहा है।

दीपू पर बड़ा विश्वास था मुझे। लेकिन जिस दीपू पर था, वह तो जैसे अब मर चुका है। उसके स्थान पर रह गया है उसका वह रूप जो माया के पालने में बैठकर एक ऐसे चश्मे से देखता है जिसमें से वही दिखाई देता है जो वह देखना चाहता है। मुझसे प्रतिज्ञा करके भी वह यशोदा को निभा न सका। और अन्त में उसने एक सम्पन्न परिवार में विवाह कर लिया। वह उसका अधिकार था। क्योंकि पिछले तीन-चार वर्षों में ठेकेदारी में उसने लाखों रुपया कमा लिया था। आज़ादी के बाद कुछ लोगों के लिए रुपया कमाना कितना आसान हो गया है! लेकिन वह बात मैं तुम्हें क्या बताऊं! मैं तो यशोदा की बात कर रही थी। एक दिन वह चुपचाप मनोज को लेकर कहीं चली गई। कहां, मुझे नहीं मालूम। यही सोचती थी कि किसी दिन वह मुझे पत्र लिखेगी, कि किसी दिन दीपू फिर यहां आएगा। लेकिन जैसे-जैसे वह नहर हमारे गांव से दूर होती चली गई, वैसे-वैसे वह भी दूर, बहुत दूर होता गया। सुनती हूं, एक बहुत बड़े बांध पर वह काम करता है। बहुत बड़ा ठेकेदार है। गांव से उसका कोई नाता नहीं। यों तो इन तीन-चार वर्षों में यह गांव भी पुराना गांव नहीं रहा। नहर में पानी आने ही वाला है। कहीं-कहीं तो आ भी चुका है। दोनों ओर पक्की सड़क बन गई है। गांव में भी अनेक पक्के घर दिखाई देते हैं। पंचों का चुनाव बहुत ज़ोर-शोर से होता है। सिर तक फूट जाते हैं, दुश्मनी तो साधारण बात है। लड़कों का हाईस्कूल है, लड़कियों का भी है। कई प्रकार के व्यक्ति आ-आकर यहां कई प्रकार के आश्रम चलाते हैं, और पैसा

कमाते हैं। अर्जन की इस विद्या में सभी निष्णात हैं···

प्रगति होनी थी, हो रही है। मैं भी प्रगति के मार्ग पर चल रही हूं। लेकिन यह ऐसी प्रगति है जिसका अन्त महामृत्यु में ही है। शायद यह महामृत्यु बहुत शीघ्र आ जाती, लेकिन तभी मेरे जीवन में वह घड़ी आ पहुंची जिसकी मैं शायद युगों से प्रतीक्षा कर रही थी। काश वह घड़ी न आती!

बहुत दिनों से मैं अपने घर में अकेली पड़ी रहती थी। खाने-पीने के भी लाले पड़ रहे थे। चालीस वर्ष की आयु में ऐसी लगती थी जैसे अस्सी वर्ष की वृद्धा होऊं। गांव वालों को भी मुझमें कोई रुचि नहीं रह गई थी। क्योंकि अब गांव फैल रहा था। बस वही एकमात्र मेरी देवरानी कभी-कभी मेरे पास आ जाती, वही मेरे जीने के साधन मुहैया करती और मुझे प्रेरणा देती। एक दिन की बात तुमसे क्या बताऊं! ऐसा लगा जैसे मुर्दे के कानों में कोई जीवन का मन्त्र फूंक रहा हो। लेकिन मैं मुर्दा नहीं हूं। मेरे शरीर में अब भी चेतना शेष थी और उस चेतना ने मुझे बड़े जोर से झकझोर दिया। मैंने सुना, तुम उस गांव में आने वाले हो; तुम, जिसने तीस वर्ष पूर्व मेरा पाणिग्रहण किया था; तुम, जिसने मेरे सारे जीवन को एक विचित्र प्रकार की कड़वी-मीठी अनुभूतियों से भर दिया था; तुम, जिसने मुझ मूर्खा को मूर्ख कह-कहकर एकदम ज्ञानी बना दिया था। तुम्हारे आने का समाचार पाकर जैसे मैं पागल हो उठी थी। तुम्हारे लिए मैंने न जाने कितने प्रलोभन ठुकराए, कितनी आशाएं लिए बैठी रही! आशा की वही घड़ी एक बार फिर मेरे जीवन में आ रही थी।

उस दिन तुम ही तो आए थे। कैसे बताऊं, मेरी प्रबल इच्छा हुई कि द्वार पर जाकर तुम्हारा स्वागत करूं। लेकिन हुआ यह कि मैं चारपाई से उठ भी न पाई। घर को साज-संवारना तो दूर की

वात है। अच्छा ही हुआ, तुम सब कुछ अपनी आंखों से देख गए। तुम्हारे साथ बहुत-से व्यक्ति थे। चाहती थी कि मेरे कानों में तुम्हारी पग-ध्वनि पड़े। लेकिन उस भीड़ में यह सम्भव नहीं हुआ। क्या यह अद्भुत बात नहीं है कि तुम अपनी परिणीता को देखनेआए थे और उस परिणीता ने अपने प्रियतम को शादी के तीस वर्ष बाद देखा था ? वह भी आंसुओं के पीछे से ? उस दिन स्टेशन पर तो मैं आंख भी न उठा सकी थी।...

तुमने कुर्ता-धोती पहन रखा था। तुम्हारा रंग कुछ-कुछ सांवला-सा था। शायद जीवन की कठिन यात्राओं ने तुम्हारे रंग को मन्द कर दिया था। तुम्हारा मुखमण्डल चौड़ा, तुम्हारे नेत्र दृढ़ता और स्नेह से भरे थे। मुझे बहुत अच्छा लगा। लेकिन यह सब तो निमिष-मात्र में हो गया। दुबारा दृष्टि उठाकर देख भी नहीं सकी। पता भी न चला कि कब वह घड़ी आई और कब चली गई। मेरी उस वाचाल देवरानी ने ही सब कुछ बताया। बोली, "जितनी देर वे खड़े रहे, एकटक तुम्हारी ही ओर देखते रहे। फिर एक झटके के साथ बाहर चले गए। उन्होंने एक ही वाक्य कहा, 'मेरे कारण इस महिला का जीवन नष्ट हो गया।"

इस एक वाक्य में ही जैसे तुमने सब कुछ कह दिया। घण्टों, दिनों, वर्षों मेरे पास बैठे रहकर भी तुम उतना न कह पाते जितना तुम एक वाक्य में कह गए। मेरे कारण तुम इतने दुःखी हुए। मैं तुम्हारे बारे में कैसी-कैसी कल्पनाएं करती रही हूं, लेकिन एक क्षण के लिए भी तुमसे घृणा न कर सकी। उसका कारण यही तो था कि तुम बराबर मेरी इस अवस्था के लिए अपने अन्तर में कहीं न कहीं अपने को दोषी मानते रहे।

तुम चले गए। मेरे चारों ओर का अंधकार और भी घना हो आया। आज तक मैं अपने दुःख से दुःखी थी लेकिन अब तो तुम्हारा

दुःख भी मेरी छाती पर सवार हो गया। तुम एक बड़ी कोठी में रहते हो। तुम्हारे पास स्त्री, बच्चे, संपदा ऐश्वर्य सभी कुछ है। इन सबों के बीच केवल मुझ ही को लेकर तुम दुःखी हो। जानते हो कि मेरा जीवन व्यर्थ हो गया है और उस व्यर्थता के लिए तुम अपने को ज़िम्मेदार मानते हो। कैसा अनाचार है यह विधि का! क्या इससे मुक्ति नहीं मिल सकती, क्या मैं मर नहीं सकती…

मैं अब उन बातों के बारे में नहीं सोचूंगी। ज्वर के बेहोश रोगी की भांति उस दिन मैंने बहुत कुछ सोचा और बहुत कुछ भुलाया। अगले दिन सवेरे भी जब मैं जागी तो एक ही वाक्य मेरे चारों ओर गूंज रहा था, 'मेरे कारण इस महिला का जीवन नष्ट हो गया।'

क्या हम सब एक-दूसरे के लिए निमित्त-मात्र ही हैं? यशोदा यही कहती थी, कहती थी तुम्हारे भीतर कहीं एक दानव बैठा है, जो दूसरों को परेशान करता रहता है। पर मैं सोचती हूं, ऐसा होता तो तुम्हारे मुंह से मेरे लिए वे शब्द क्यों निकलते? उसके बाद, मेरी देवरानी मेरे पास आई और मुस्कराकर बोली, "जीजी, आदमी कैसा दुष्ट होता है! तुम्हें देखकर कल उन्होंने न जाने क्या-क्या कहा। लेकिन क्या वे ऐसे ही हैं?"

मैंने पूछा, "तुम क्या समझती हो?"

वह बोली, "मैं तो समझती हूं कि वह सब ढोंग था।"

मैं एकाएक चीख उठी, "तुम झूठ बोलती हो। तुम उन्हें नहीं जानतीं।"

मेरी देवरानी तनिक भी अप्रतिभ नहीं हुई। बड़े जोर से हंसी, "जीजी, तुम बड़ी भोली हो। न होतीं तो क्यों ठगी जातीं! खैर, अब तुम्हें यही समझना चाहिए।"

और फिर उसने मुझे शान्त करने की चेष्टा की। जानती हूं यह सब वह जान-बूझकर ही कर रही थी। वह मुझे दुःखी करना

नहीं चाहती थी, लेकिन सब कुछ होकर भी क्या मैं इसबात को नहीं जानती थी कि मैं तुम्हारे जीवन कीएक बाधा ही थी ? मैंने जीवन-भर तुम्हें प्यार किया है और मेरे हृदय के किसी कोने में यह विश्वास भी जमा हुआ है कि तुम भी मुझसे घृणा नहीं करते। इतने ऐश्वर्य और सुख के बीच में रहकर भी तुम सुखी नहीं हो और मैं बेसहारा अतलस्पर्शी वेदना के सागर की उत्ताल तरंगों में भटकती हुई भी मर नहीं पा रही हूं। मेरे आसपास बहुत-से आकर्षण इकट्ठे हुए, कई व्यक्तियों ने मुझे चाहा, लेकिन आज मैं निपट अकेली रह गई हूं। तुम्हारी उस भेंट के बाद से तो मैं उस अकेलेपन को बड़ी तीव्रता के साथ अनुभव कर रही हूं। मेरे पास तुम्हारी स्मृतिस्वरूप कुछ भी तो नहीं है। मैं इस सबके लिए तुम्हें दोषी नहीं ठहराती। तुम्हारे सुखी जीवन को कंटकाकीर्ण नहीं बनाना चाहती। मैंने इस अनिश्चितता का अन्त करने का निर्णय कर लिया है। उसके बाद, मेरी वेदना का आभास तक तुम न पा सकोगे। मैं प्रार्थना करती हूं कि तुम उस स्त्री को भूल जाना जिसने तुम्हें जीवन-भर प्यार किया लेकिन जो तुम्हें केवल वेदना ही दे पाई। वह सदा इस बात का इन्तज़ार करती रही कि तुम उसे बुलाओगे. लेकिन अपने को इस योग्य नहीं बना सकी कि तुम उसे अपने पास देख सकते।

उस रात मुझे ऐसा लगा था कि जैसे तुम मुझे बुलाने वाले हो और तुम अब मेरे सम्मान के साथ खिलवाड़ नहीं करोगे। लेकिन कहां तुम और कहां मैं ! कहां माथे का चदन और कहां पैरों की धूल ! न, अब बुलाने की आवश्यकता नहीं है। तुमने मुझे कभी भी कोई आज्ञा नहीं दी। प्रार्थना करती हूं कि अब भी कोई आज्ञा न देना। क्या ही अच्छा होता, कि तुम मुझे पहचान न पाते। लेकिन, तुम तो मुझे अच्छी तरह पहचानते हो। इसलिए मेरा कहना है कि उस पहचानको धूमिल न करना और करुणा के आवेग में आकर

वह गलती न कर बैठना, जो अक्सर लोग ढलती उम्र में कर बैठते हैं।

अब अधिक नहीं लिख सकती। ऐसा लग रहा है कि जैसे तुम वह गलती करने वाले हो। इसीलिए मैंने तुम्हारी आज्ञा न मानने का निश्चय कर लिया है। अब मैं तुम्हें वह अवसर ही न दूंगी जिससे मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन न कर सकूं। मैंने तुम्हें बहुत कुछ लिखा है। न जाने कितनी रातों में बैठकर लिखा है। कितनी बार लिखा, कितने पन्ने फाड़े, आज उन सभीको नये सिरे से एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न कर रही हूं। लेकिन जैसे मेरा जीवन अस्तव्यस्त रहा, वैसे ही यह पत्र भी अस्तव्यस्त है। बस, अब एक अंतिम बात और है…

सोचती थी कि अब कुछ नहीं लिखूंगी। चुपचाप, किसी भी तरह हो, मृत्यु का आलिंगन कर लूंगी। लेकिन तुम्हारे आने के बाद से मुझे ऐसा लग रहा है कि जैसे मेरी मृत्यु का समाचार पाकर तुम्हें वेदना होगी और मैं नहीं चाहती कि तुम्हें किसी तरह की, पीड़ा हो। तुम्हारी आंखों का वह गीलापन मुझे अभी तक परेशान किए हुए है। मैं समझ नहीं पा रही कि क्या करूं, जिससे तुम सुखी हो, और जिससे तुम्हारे मन में मेरे प्रति संवेदन न जागे। मुझे ऐसा लगता है कि मेरा मरना भी तुम्हें सुखी नहीं कर सकेगा, तो फिर क्या करूं…

इसी उधेड़-बुन में थी कि मुझे राह सूझ गई। राह एकाएक नहीं सूझी। घटनाएं कुछ इस तेजी से घटीं, कि मैं उलझन से बाहर निकलती चली गई। आज तो जैसे उन सबका अन्त आ गया है। तुम्हारी वेदना और मेरी पीड़ा— सबका ही अन्त आ गया है। सच

कहती हूं और सच कहने के अलावा मेरे पास रह ही क्या गया है ! आज तो जैसे सब कुछ पारदर्शी हो गया है। छिपाना चाहूं तो भी छिपा न सकूं।

तुम्हारे जाने के कई महीने बाद तक मैं बहुत परेशान रही। सबको यह विश्वास हो चला था कि मैं बहुत जल्दी पागल हो जाऊंगी। सुनती हूं, मैं कभी-कभी बाहर चली जाया करती, रात-रात-भर नहर के पुल पर बैठी रहती, मुझे कुछ याद नहीं। लेकिन, जब मुझे बताया जाता है तो मस्तिष्क के किसी कोने में जैसे एक चुबक-सी उठती है और क्षण-भर के लिए भांग का नशा करने वाले की तरह मुझे होश आ जाता है। यह भी कह सकती हूं कि बेहोश हो जाती हूं और उस अवस्था में मुझे वे दृश्य दिखाई देते हैं जिनको मैं भूल गई हूं। शायद उस दिन मैं कई हफ्ते बाद बाहर निकली। खाने-पीने का बन्दोबस्त करना था, कि अचानक द्वार पर किसीकी आहट सुनी। अब मेरे द्वार पर शायद ही कोई आता था। मुझे आश्चर्य हुआ, लेकिन वह आहट रुकी नहीं। कोई सीधे भीतर चला आया। मैंने पहचाना वह यशोदा थी। ऐसा लग रहा था जैसे वह बहुत प्रसन्न हो। मनोज उसके साथ नहीं था। मैंने अचकचाकर कहा, "यशोदा तुम !"

वह मुस्कराते हुए बोली, "हां, मैं ही हूं।"

मैंने पूछा, "कहां हो, कैसी हो ?"

वह हंस पड़ी, "बहुत अच्छी हूं, शहर में रहती हूं।"

मैंने फिर पूछा, "मनोज कहां है ? अच्छा है ना ?"

इस बार उसने उत्तर नहीं दिया। चुपचाप बैठ गई। न जाने क्यों, मेरा दिल धक-धक कर उठा। तुरन्त पूछा, "तुमने जवाब नहीं, दिया ! वह ठीक तो है ?"

वह हंस पड़ी, "ठीक क्यों नहीं ! अब तो वह बिल्कुल ठीक

होगा। सब सुख-दुःख से परे पहुंच गया है।"

मैं कांप उठी, "क्या कहती है!"

सहसा उसकी आंखों से आंसू झरने लगे; और देखते-देखते उसकी सिसकियां बंध गईं। मैं चुपचाप उठी और उसका सिर अपनी छाती पर रख लिया और वह देर तक रोती रही और मैं उसकी कमर सहलाती रही। जब बहुत देर हो गई तो मैंने धीरे से पूछा, "यह सब कैसे हुआ? तुमने मुझे खबर तक नहीं की?"

उसने उत्तर दिया, "तुम्हें खबर देने का साहस कहां से लाती?"

और उसके बाद, उसने जो कहानी सुनाई उसको विस्तार से यहां कहकर मैं तुम्हारा दिल दुखाना नहीं चाहती। कलाकारों की अनुभूति बहुत कोमल होती है। सुनकर तुम रो पड़ोगे; क्योंकि वह कुछ भी हो, तुम्हारा ही तो बेटा था। वह दवा के अभाव में नहीं मरा। उसको पैसों का भी अभाव नहीं था। लेकिन एक अभाव था जिसके कारण वह किसीको अपना न कह सका। उसकी मां भी उसकी न हुई, क्योंकि अगर वह उसकी होती तो मेरे पास रह सकती थी। लेकिन मैं उसको दोष नहीं दूंगी। वह नारी पहले थी और मां पीछे। नारी की सार्थकता की मृगतृष्णा में फंसकर उसने अपनी कोख के रत्न को खो दिया। दीपू ने मुझसे प्रतिज्ञा करके भी उसको अपनाया नहीं। कहूंगी कि स्वयं यशोदा का अहं इसके लिए एक सीमा तक दोषी है। दोषी तो मैं कहती हूं क्योंकि मैं पुराने युग की हूं। वैसे उसका कोई दोष नहीं। जहां नारी को अपने सम्मान में तनिक भी शंका हो, वहां उसे नहीं रहना चाहिए। मेरा मस्तिष्क इस बात को स्वीकार करता है। लेकिन अपने दिल का क्या करूं? वह तो तुम्हें भी दोषी नहीं ठहराता। कुछ भी हो, यशोदा वहां से चली गई। उसे बहुत कठिनाई नहीं हुई। उसने एक और शादी कर ली। इस बार उसने समझदारी से काम लिया।

इस बार जिस पति को उसने चुना, वह अपेक्षाकृत अधेड़ था। उसे पत्नी की आवश्यकता भी थी और अपने दो बच्चों के लिए मां की भी।

उस घर में मनोज को भी कोई बहुत दुख नहीं था। लेकिन न जाने कैसे उसके शिशु मन पर यह प्रभाव पड़ गया कि यह उसका घर नहीं है। उसका नया बाप भी उसे प्यार करने का प्रयत्न करता था, लेकिन न जाने क्यों, उसे उस प्यार में ज़हर दिखाई देता था। वह पढ़ने जाने लगा था। काम भी ठीक-ठीक करता था। लेकिन बोलता नहीं था। और कभी-कभी ऐसा व्यवहार करता था कि उसकी मां भी उसे पीट देती थी। पहली बार जब वह अपनी मां से पिटा तो सहम गया। दूसरी बार उसने बदले में, अपनी मां के हाथ में काट खाया और तीसरी बार वह घर से भाग गया। कुछ ही महीनों में उसकी दुनिया बदल गई। साल होते न होते वह एक समस्या बन गया।

तुम तो मानव-मन के ज्ञाता हो। मेरे बिना कहे ही तुम मेरी कहानी को अच्छी तरह समझ गए होगे। और शायद तुम इसे लेकर एक बहुत ही सुन्दर मर्मस्पर्शी कथा भी लिख डालोगे। मेरा सुझाव है, उस कहानी का नाम रखना 'मेरा बेटा'। क्योंकि एक लेखक के लिए अपने प्रिय का श्राद्ध करने का इससे और कोई सुन्दर तरीका नहीं हो सकता। तुम्हारी इस कहानी को पढ़कर लाखों व्यक्ति आंसू बहाएंगे। हो सकता है कि उनमें से दो-चार इस बात की प्रतिज्ञा भी कर लें कि वे अपने इस प्रकार के बेटों को अपने से अलग नहीं होने देंगे। सोचो तो, यह कितनी बड़ी बात होगी।...

काश, मैं लेखिका होती, तो दुनिया को यह बताती कि यह सीधी-सादी दुनिया, यह शान्त-सौम्य संसार कितने भयंकर ज्वाला-

मुखी के ऊपर खड़ा हुआ है। असंख्य दरारों में से होकर ज्वाला-मुखी की लाल-लाल लपटें अक्सर धरती की सतह पर दिखाई देती हैं, लेकिन दुनिया वाले उनको तब तक नहीं देख सकते जब तक कि वे अपने चश्मे न उतार लें। मैं यह जानती हूं कि मेरा यह पत्र एक दिन तुम ज़रूर प्रकाशित कर दोगे और इसको पढ़कर अधिकांश व्यक्ति, जिनमें बड़े-बड़े लेखक और शिल्पी भी होंगे, यही कहेंगे कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। होता है तो अपवाद है। अपवाद नियम नहीं हो सकता।...

मैं क्या लिख गई! कभी-कभी बिल्कुल पागल हो जाती हूं। अपने प्रिय से अंतिम विदा लेते समय कोई भला ऐसी कड़वी बात कहता है! ना, इस अंतिम समय में मैं तुम्हारा जी नहीं दुखाऊंगी। जो भवितव्य है उसे हंसते-हंसते स्वीकार करूंगी।

अंतिम बार, बस अंतिम एक बार और कहना चाहती हूं। यशोदा मेरे पास अधिक देर नहीं ठहरी, लेकिन जितनी देर वह रही, उसने मुझसे बहुत कुछ कहा। वह बहुत कुछ इतना असह्य था कि मुझे ऐसा लगने लगा कि मैं यशोदा को मार-मारकर अपने घर से बाहर निकाल दूं। उसको भला क्या अधिकार था कि वह तुम्हारे ही घर में बैठकर तुम्हारी ही परिणीता के सामने तुम्हें गालियां दे? उसने तुम्हें बहुत कोसा। उस दिन ही मैं समझ पाई कि पानी पी-पीकर कोसना क्या होता है। उसने तुम्हारे नाम एक बड़ा भयंकर पत्र भी लिखा था। उससे छीनकर मैंने उसे जला दिया था। उसको याद करके मैं अब भी कांप रही हूं। कोई भी नारी, उस पुरुष के लिए, जिससे उसका किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध हो चुका है, कैसे ऐसी बातें लिख सकती है, और फिर तुम्हारे लिए! तुम तो इतने महान् हो कि तुमने उसके नारीत्व को सार्थक कर दिया था, उसे मां बना दिया था।

मैं तो इसी एक बात के लिए तरसती रह गई। मेरे लिए यह आकांक्षा आकाश-पुष्प बनी रही। मैं बड़ा प्रयत्न कर रही हूं कि उस पत्र की छाया मेरी लेखनी पर न पड़े। लेकिन इस घोर प्रयत्न के बावजूद मैं कहीं-कहीं बहक गई हूं। उसके लिए बार-बार क्षमा मांगती हूं। मेरे अच्छे मालिक, मेरे सरताज, मुझे माफ कर देना। मैं बावली होती जा रही हूं।

तुम नहीं जानते कि अभी पिछले हफ्ते जब सब कुछ समाप्त होता जा रहा था, हतप्रभ-विमूढ़ मैं कुछ सोच नहीं पा रही थी, तब दीनू मेरे पास आया। सदा की तरह कुछ सहमा हुआ वह पुरुष मेरे पास आकर बैठ गया। वह कुछ कहना चाहता था, पर कह नहीं पा रहा था। मैंने चुपचाप दृष्टि उठाकर उसकी ओर देखा। वह कुछ बदला-बदला-सा, कुछ बूढ़ा-सा नजर आया। मैंने उसके साथ काफी दिन बिताए थे। उस सबकी कहानी मैं तुम्हें सुना चुकी हूं। इस क्षण तो मैं यही स्वीकार करना चाहती हूं कि मेरे मन में उसके प्रति एक आकर्षण पैदा हो गया था। यह बात मैं तब नहीं जान पाई थी। लेकिन पिछले दिनों में जब मैं सब कुछ से अपना नाता तोड़ चुकी थी और जब मैं तुम्हारे बहुत पास आती जा रही थी, कहीं तुम यह न समझ लेना कि मैं तुमसे बहुत दूर हो गई थी। लेकिन मैं उस बात को शब्द नहीं दे पा रही हूं। तुम्हें वह घड़ी भेजने के बाद से मैं केवल तुम्हारी ही बात सोचती थी, तुम्हारी ही आहट सुनती थी, तुम्हारी ही मूर्ति मेरी आंखों में उभरती थी। और उस दिन से जब तुमने इस कोठरी में खड़े होकर, जिसमें पिछले तीस वर्ष मुझे तुम्हारे साथ बिताने थे, तुमने मेरे लिए वे शब्द कहे, तो मुझे ऐसा लगा था कि सचमुच ही मैं तुमसे बहुत दूर हूं। तब से मैं यही सोचती रही थी कि क्या सचमुच ही मैं तुमसे दूर थी।

नहीं मेरे मालिक, तुम मुझसे दूर हो सकते हो, पर मैं तुमसे

दूर नहीं हूं, पर क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मैं ऐसा भी अनुभव करती रही हूं कि यदि दीनू मेरे पास होता तो तुम्हारे और मेरे बीच की दूरी को कम कर पाता। यह कैसी अजीब बात है ! मैं उसे चाहती थी केवल तुम्हारे लिए।

तुम बहुत बड़े लेखक हो, मन के अन्धकूपों में जाकर मनुष्य की खोज करते हो, क्या तुम कभी इस रहस्य का पता लगा सकोगे कि आखिर यह सब क्या था ? दीपू का बड़ा भाई, दीपू, वह साधु, और दीनू और तुम, क्या सचमुच ये सब अलग-अलग हैं ? क्या सच-मुच मेरे लिए (मैं जैसी भी कुछ हूं, नारी हूं, मेरे लिए) इन सबका कोई अलग-अलग व्यक्तित्व है ?

जाने दो इन बातों को, सुलझाते रहना इन समस्याओं को। मेरे लिए तो जैसे सब कुछ सुलझ गया है। मैंने दीनू का स्वागत किया। उसकी कहानी सुनी। उसने मुझे बताया कि उसकी पत्नी का देहान्त हो गया है। वह अपने चारों बच्चों को लेकर वहीं नहर पर रहता है। उसके नीचे बहुत-से मज़दूर काम करते हैं और दीपू अब श्री दीपचन्द वर्मा के नाम से उनका ठेकेदार है। शहर में उसका बहुत बड़ा मकान है। उसने अन्तर्जातीय विवाह किया है। मज़दूरों के प्रति वह काफी सदय है।

दीनू मेरे पास इसीलिए आया था कि मैं उसके साथ चलूं और पहले की तरह मज़दूरों की देखभाल करूं। मैंने उसकी सारी बातें सुन लीं और फिर सिर हिलाकर ज़ोर से हंस पड़ी। बोली, "यह कैसे हो सकता है ? न, अब मैं कहीं नहीं जाऊंगी। हो सकता है कि किसी दिन वे यहां फिर आएं। कम से कम इतना विश्वास तो मुझे है ही कि मेरे मरने पर वे मेरी मांग में सिन्दूर भरने के लिए अवश्य आएंगे।"

वह हंस पड़ा। बहुत ज़ोर से हंस पड़ा। सीधा-सादा दीनू

एकाएक वाचाल हो उठा। सधे हुए स्वर में बोला, "तुम अपने को ऊंची जाति का मानती हो, तुम ऊंची जाति के लोग कैसे-कैसे झूठे सपनों में खोए रहते हो, कैसे-कैसे झूठे आदर्शों के नीड़ बनाए हैं तुमने! मरते समय तुम्हारी मांग में कोई सिन्दूर भरे, क्या होगा उससे? जीवन लौट आएगा? नये संसार का निर्माण होगा? दुनिया को सुख मिलेगा?"

न जाने उसने क्या-क्या कहा। मैं भौचक्की-सी उसे देखती ही रह गई। जैसे-जैसे उसके शब्द मेरे कानों में प्रवेश करते थे, मेरे मस्तिष्क में झनझनाहट-सी उठती थी, जैसे दूर कहीं कुछ झंकृत होता हो। मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा। एक गहरी धुन्ध, भयंकर शीत ऋतु का ठण्डा कुहरा, जो शरीर को जमाता चला जाता है, लेकिन कैसा प्यारा लगता है! और उसके बीच में टिमटिमाती हुई रोशनियां वह शान्त स्वर्ग, मृत्यु का वह सुरम्य प्रदेश मैं जैसे उसमें खो गई थी। और दीनू चला गया था।

वह चला गया तो मेरी देवरानी आ गई—सदा की तरह हंसती हुई, उछलती हुई। बोली, "जीजी, आज तो चेहरे पर कुछ रौनक है। क्या ज़िन्दगी से कुछ मोह पैदा हो गया है? अरे जीजी, छोड़ो इस मातमी सूरत को और छोड़ो अपने उस बलमवा को। आंसू बहाने वाले प्रेम नहीं किया करते। भला जो बादल गरजते हैं क्या वे बरसते हैं? बरसने वाले बादल बड़े डरावने होते हैं।"

मैं हठात् बोल उठी, 'तो क्या करूं, तू ही बता न।"

वह व्यंग्य से बोली, "मैं बताऊं? अरे औरत को भी क्या कभी कुछ बताना पड़ता है? उठो, उठकर काम-काज में लगो। सब आप ही पता लग जाएगा।"

वह भी चली गई। दीनू फिर आया। रोज़ आता रहा। और कल भी आया था और कह गया था, "इस जीवन का अन्त करो न।

इस उलझन को मिटा डालो।"

और मैं भी सोच रही हूं कि केंचुए की सी इस जिन्दगी का अन्त कर देना ही ठीक है। तुम सोचोगे कि इस उम्र में यह उत्साह कैसा। औरतों में पचीस-तीस वर्ष तक ही उत्साह रहता है। फिर तो वे चुक जाती हैं। मैं भी चुक गई हूं। इसीलिए तो मेरा दिल बहुत घबरा रहा है। मुझसे लिखा नहीं जाता। तुम स्वयं पहचान लोगे कि यह जो अन्तिम पृष्ठों के मेरे अक्षर हैं, पहले के पृष्ठों के अक्षरों से कितने भिन्न हैं। मेरी एक अन्तिम प्रार्थना है, अन्तिम ! एकदम अन्तिम ! तुम जो नयी पुस्तक लिखो उसे इसी पत्र के आधार पर लिखना, और उसे मेरी स्मृति को समर्पित करना। लिखना, 'उसीको जो मेरी थी'।

मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि तुम्हें उस पुस्तक पर एक बहुत बड़ा पारितोषिक मिलेगा। उस पारितोषिक से तुम एक ट्रस्ट का निर्माण करना और उसका उद्देश्य रखना—'उन सुहागिनों के लिए जो मांग में सिन्दूर भरकर भी सुहाग का स्पर्श नहीं पा सकतीं'।

बस, अब और कुछ नहीं लिखना है। जानती हूं, तुम मुझे माफ तो कर ही दोगे। मैं नहीं जानती कि मेरा भगवान् में विश्वास सच्चा है या झूठा। यदि वे हों और जहां भी हों, वे तुम्हारी रक्षा करें। तुम्हारे मन में मेरी स्मृति जगाए रखें। मेरे प्रिय, तुम मेरी इस स्मृति को जगाए रखना।

मेरे प्रिय, तुम मेरी इस अन्तिम प्रार्थना को निश्चय ही स्वीकार करना। उसके लिए मैं तुम्हें इसी समय धन्यवाद देती हूं और विश्वास दिलाती हूं कि अब भी जब कि मैं कुछ क्षण बाद ही तुम्हारे इस पुश्तैनी घर से बहुत दूर हो जाऊंगी, तुम्हें सच्चे मन से प्यार करती हूं।

अच्छा मेरे प्रिय, मेरे जीवन-धन, मेरे मालिक, मेरे सरताज !

विदा ! अन्तिम विदा ! दीनू अब आने वाला ही होगा। मैं उसकी पदचाप सुन रही हूं।...

लो, द्वार पर आहट भी होने लगी। पर मैं इतना घबरा क्यों रही हूं ? न न, मैं घबराऊंगी क्यों ? तुमने तो मुझे आज्ञा दे ही दी है। पर जाने से पहले तुम्हारे इस घर को आग लगा दूं न ? यहां न तो तुम आओगे, न अब मैं ही रहूंगी। तब यही क्यों रहे ? यह टिमटिमाती लालटेन भी तो आखिरी सांस ले रही है। लेकिन कहीं एक और रोशनी मेरी इन्तज़ार कर रही है। अच्छा विदा। मेरे स्वामी ! विदा मेरे प्रिय !

तुम्हारी :
एक परिचिता

पुनश्च

मुझे वहुत दु:ख के साथ आपको यह सूचना देनी पड़ रही है कि आपके घर को आग लगाकर आपकी वह परिचिता वच नहीं सकी। वह भी उसकी लपटों में बुरी तरह झुलस गई। कुछ लोग कहते हैं, मकान में लपटें देखकर सबसे पहले दीपू का वड़ा भाई वहां पहुंचा था। उसीने उसे धक्का दे दिया। कुछ लोग समझते हैं कि यह सब आकस्मिक था। लेकिन मैं जानती हूं कि यह सब पूर्व-नियोजित था। सुनोगे ? उसने आत्महत्या की है। उसका अपराध वोध मिट नहीं सका। यह अपराध-वोध और कुछ नहीं, संस्कार-वोध ही तो है। वेचारी संस्कारों से ऊपर न उठ सकी और जल मरी। हारी, थकी, जर्जर, पराजिता—उसे टूटना था, टूट गई। हत्या होनी थी, हो गई। यह हत्या ही है। कुछ आत्महत्याएं विशुद्ध हत्याएं ही होती हैं।

वह कई दिन अस्पताल में अर्ध-संज्ञा में पड़ी रही। मैंने वहुत प्रयत्न किया कि कुछ पूछ सकूं। पर एक वार अपनी झुलसी हुई भयानक पलकों को उठाने के अतिरिक्त वह कुछ न कर सकी। ओह ! वह भयानक रिक्त दृष्टि ! मैं उसे सह न सकी। नहीं जानती किस तरह घर लौटी। वहां डाक से आया यह पत्र मिला। इसे तुम तक पहुंचा दूं यह प्रार्थना उसने मुझसे की थी। वही पूरी कर रही हूं। आश्चर्य यह है कि स्थान-स्थान पर उसने मेरे पत्र से वाक्य के वाक्य उद्धृत कर दिए हैं। इस प्रकार इस पत्र में मैं भी आ गई हूं। मुझे इस वात की खुशी है।

—यशोदा।

◇ ◇ ◇